अल्पमोली संस्करण

# इतिहास के महापुरुष

लेखक

जवाहरलाल नेहरू
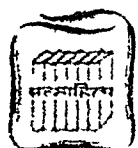
सस्ता साहित्य-मंडल-प्रकाशन

१९६०

इस साम्राज्य पर चन्द्रगुप्त ने २४ वर्ष राज किया। ईसा से पहले २९६वे वर्ष मे उसकी मृत्यु हुई।

: ५ :

# 'देवनाम्प्रिय' अशोक

अशोक एक ऐसा व्यक्ति था, जो सम्राट होते हुए भी महान था और इज्जत के काबिल था। वह चन्द्रगुप्त मौर्य का पोता था। एच० जी० वेल्स ने उसके बारे मे लिखा है—"इतिहास के पृष्ठो मे ससार के जिन लाखो सम्राटो, राज-राजेश्वरो, महाराजाधिराजो, श्रीमानो आदि के नाम भरे हुए है, उनमे अकेले अशोक का नाम ही सितारे की तरह चमकता है। वोल्गा नदी से जापान तक आज भी उसका नाम आदर के साथ लिया जाता है। चीन, तिब्बत और भारत ने भी—हालाकि उसने उसके सिद्धान्त को छोड दिया है—उसकी महानता की परम्परा को कायम रखा।"

यह वास्तव मे बहुत ऊचे दर्जे की प्रशसा है। लेकिन अशोक इसका पात्र था, और हरएक भारतीय का हृदय भारत के इतिहास के इस युग पर विचार करने मे आनन्द से भर जाता है।

चन्द्रगुप्त की मृत्यु ईसाई सन् के शुरू होने के करीब ३०० वरस पहले हुई। उसके बाद उसका लडका बिन्दुसार गद्दी पर बैठा, जिसने पच्चीस वर्ष तक शान्तिमय शासन किया। यूनानी जगत से उसने अपना सम्पर्क बनाये रखा। उसके दरबार मे पश्चिम एशिया के सेल्यूकस के लडके एण्टी-ओकस और मिस्र के टालमी की ओर से राजदूत आते थे। बाहरी दुनिया से व्यापार बराबर जारी था और कहा जाता है कि मिस्रवाले अपने कपड़े भारत के नील मे रगा करते थे। कहते है कि ये लोग अपनी मोमियाइया भारतीय मलमल मे लपेटते थे। बिहार मे पुराने जमाने के कुछ चिह्न मिले है, जिनसे मालूम होता है कि मौर्य-युग के पहले भी वहा एक तरह का काच बनाया जाता था।

यह बात दिलचस्प मालूम होती है कि मेगेस्थनीज ने, जो चन्द्रगुप्त के

दरबार मे राजदूत होकर आया था, लिखा है कि भारतीय लोग सजावट और सौदर्य बहुत पसन्द करते थे। उसने इस बात का खासतौर से जिक्र किया है कि लोग अपना कद ऊचा करने के लिए जूते पहनते थे। इससे मालूम होता है कि ऊची एडी का जूता कोई हाल की ईजाद नही है।

बिन्दुसार की मृत्यु होने पर ईसा के २६८ वर्ष पहले अशोक उस विशाल साम्राज्य का उत्तराधिकारी हुआ, जो सारे उत्तर और मध्यभारत से लेकर मध्य एशिया तक फैला हुआ था। शायद भारत के बाकी दक्षिण-पूर्वी और दक्षिणी हिस्से को अपने साम्राज्य मे मिलाने की इच्छा से उसने अपने राज्य के नवे बरस मे कलिग पर चढाई की। कलिग भारत के दक्षिणी समुद्र-तट पर महानदी, गोदावरी और कृष्णा नदियो के बीच का देश था। कलिगवाले बडी बहादुरी से लडे, लेकिन आखिर मे बहुत भयकर मार-काट के बाद वे कुचल दिये गए। इस लडाई और मार-काट ने अशोक के दिल पर इतना गहरा असर किया कि उसे लडाई और उसके सब कामो से नफरत हो गई। उसने यह तय कर लिया कि आगे वह अब कोई लडाई न लड़ेगा। दक्षिण केएक छोटे-से टुकडे को छोडकर करीब-करीब सारा भारत उसके कब्जे मे था। इस छोटे-से टुकडे को जीतकर अपनी विजय को पूर्ण कर लेना उसके लिए बहुत आसान बात थी, लेकिन उसने ऐसा नही किया। एच० जी० वेल्स के लिखे मुताबिक इतिहास भर मे अशोक ही एक ऐसा सैनिक सम्राट् हुआ है, जिसने विजय के बाद लडाई को त्याग दिया हो।

सौभाग्य से हमे खुद अशोक के ही शब्दो मे कुछ ऐसे विवरण मिलते हैं, जिनमे बतलाया गया है कि उसके क्या विचार थे और उसने क्या-क्या काम किये। पत्थरो और धातु-पत्रो पर खुदी हुई बहुत-सी धर्मलिपियों में जनता और भावी सन्तति के नाम उसके सन्देश आज भी मिलते हैं। इलाहाबाद के किले मे अशोक का एक ऐसा ही स्तम्भ है। हमारे सूबे मे इस तरह के और भी कई स्तम्भ हैं।

इन धर्मलिपियो मे अशोक ने बताया है कि युद्ध और विजय मे होनेवाली हत्याओ से उसके दिल मे कितनी घृणा और कितना अनुताप हुआ। उसका कहना है कि धर्म के आचरण से अपने और मानव-हृदय के ऊपर विजय प्राप्त करना ही एकमात्र सच्ची विजय है। इन धर्मलिपियो को

पढकर मन मुग्ध हो जाता है और उनसे अशोक के भावो को समझने मे मदद मिलती है।

एक धर्मलिपि मे लिखा है

"धर्मराज प्रियदर्शी महाराज ने अपने अभिषेक के आठवे वर्ष मे कलिंग को जीता। डेढ लाख आदमी वहा से कैद करके लाये गए। एक लाख वहा कत्ल हुए और इससे कई गुना अधिक मर गये।

"कलिग-विजय के बाद से ही धर्मराज वडे उत्साह से धर्म की रक्षा, धर्म के पालन और धर्म के प्रचार मे जुट गये। उनके हृदय मे कलिग-विजय के लिए पश्चात्ताप शुरु हुआ, क्योकि किसी अपराजित देश पर विजय प्राप्त करने मे लोगो की हत्या, मृत्यु और उन्हे कैदी वना करके ले जाया जाना जरूरी हो जाता है। धर्मराज को इस वात पर बहुत गहरा दु ख और खेद होता है।"

आगे चलकर इस धर्मलिपि मे लिखा है कि कलिग मे जितने आदमी मारे गये या कैद हुए, उसके सौवे या हजारवे हिस्से का भी मारा जाना या कैद किया जाना अब अशोक को सहन नही होगा।

"इसके सिवा अगर कोई धर्मराज के साथ बुराई करेगा तो वह उसे जहातक सहा जा सकेगा, सहेगे। अपने साम्राज्य की जगली जातियो पर भी धर्मराज कृपा-दृष्टि रखते है और चाहते है कि वे लोग शुद्ध भावना रखे, क्योकि वे अगर ऐसा न करे तो उन्हे प्रायश्चित्त करना होगा। धर्मराज की इच्छा है कि समस्त जीवो की सुरक्षा हो और सब शान्तिपूर्वक सयम के साथ और प्रसन्न-चित्त रहे।"

इसके आगे अशोक बताता है कि धर्म से मनुष्यो का हृदय जीतना ही सच्ची विजय है और उसने हमे वताया है कि उसे ऐसी सच्ची विजय केवल अपने ही साम्राज्य मे नही, बल्कि दूर-दूर के राज्यो मे भी प्राप्त हुई।

जिस धर्म का इन धर्मलिपियो मे वार-वार जिक्र किया है, वह बौद्ध-धर्म है। अशोक वडा उत्साही वौद्ध हो गया था और उसने इस धर्म के प्रचार मे शक्ति-भर खूब कोशिश की, लेकिन इस काम मे किसी तरह की जवरदस्ती या दवाव का नाम-निशान भी नही था। वह लोगो के दिलो को

जीतकर ही उन्हे बौद्धधर्म का अनुयायी बनाना चाहता था। धर्म-प्रचारको मे ऐसे बहुत कम क्या, बिल्कुल ही कम हुए है, जो अशोक की तरह दूसरे धर्मो के प्रति इतने उदार रहे हो। लोगो को अपने धर्म मे मिलाने के लिए धर्म-प्रचारको ने बल, आतक और धोखेबाजी को काम मे लाने मे हिचकिचाहट नही की है। सारा इतिहास धार्मिक अत्याचारो और मजहबी लडाइयों से भरा पडा है और धर्म और ईश्वर के नाम पर जितना खून बहा है, उतना शायद ही किसी दूसरे नाम पर बहा होगा। इसलिए यह याद करके खुशी होती है कि भारत के एक महासपूत ने, जो बहुत ही धार्मिक था और एक शक्तिशाली साम्राज्य का मालिक भी था, लोगो को अपने मत का अनुयायी बनाने के लिए कैसा मार्ग अपनाया। ताज्जुब है कि कोई इतना बेवकूफ हो कि वह यह खयाल करे कि धर्म और विश्वास तलवार या सगीन के डर से लोगो के गले में उतारे जा सकते है।

इस प्रकार देवताओ के प्रिय, या धर्मलिपियो के शब्दो में 'देवानाम्-प्रिय' अशोक ने पश्चिम मे एशिया, अफरीका और यूरोप के राज्यो में अपने सन्देशवाहक और राजदूत भेजे। उसने अपने सगे भाई महेन्द्र और बहन सघमित्रा को लका भेजा। कहा जाता है कि ये अपने साथ गया से पवित्र बोधि-वृक्ष की एक टहनी भी ले गये थे। कहते है, अनुरुद्धपुर के मन्दिर मे वही पेड है, जो उस पुरानी टहनी से जमकर बडा हुआ।

भारत मे बौद्धधर्म बहुत तेजी से फैल गया और चूकि अशोक की दृष्टि मे केवल मन्त्रो के जप और पूजा-पाठ और सस्कारो का नाम धर्म न था, बल्कि उसका अर्थ था नेक काम करना और समाज को ऊचा उठाना, इसलिए सारे देश में सार्वजनिक बाग-बगीचे, अस्पताल, कुए और सडके नजर आने लगे। स्त्रियो की शिक्षा के लिए खास इन्तजाम किया गया था। इस समय चार बडे-बडे विश्वविद्यालय थे, एक ठेठ उत्तर मे पेशावर के पास तक्षशिला मे, दूसरा मथुरा मे, तीसरा मध्य भारत मे उज्जैन मे; और चौथा पटना के पास नालन्दा में। इन विश्वविद्यालयो मे सिर्फ भारत के ही नहीं, बल्कि चीन से लेकर पश्चिमी एशिया तक के दूर-दूर देशो से विद्यार्थी पढने के लिए आते थे और वापस अपने देश को बुद्ध के उपदेशो का सन्देश अपने साथ ले जाते थे। सारे देश मे बडे-बडे मठ बन गये थे, जो

'विहार' कहलाते थे। मालूम होता है पाटलिपुत्र या पटना के आस-पास इतने ज्यादा विहार थे कि सारा प्रान्त ही विहार या जैसाकि आजकल पुकारा जाता है, बिहार कहलाने लगा। लेकिन जैसा अकसर होता है, इन विहारो मे से अध्ययन और विचार की साधना थोडे ही दिनो म जाती रही और ये ऐसे स्थान बन गये, जहा लोग एक ढर्रे मे पड गये और पूजा-पाठ की लकीर पीटने लगे।

जीवन-रक्षा के लिए अशोक के प्रेम का दायरा जानवरो तक के लिए था। जानवरो के लिए खासतौर से अस्पताल खोले गये थे और पशुबलि बन्द कर दी गई थी। इन दोनो बातो मे अशोक हमारे जमाने से भी कुछ आगे था। अफसोस की बात है कि जानवरो का बलिदान कुछ हद तक अभी भी जारी है और धर्म का एक जरूरी अग माना जाता है।

अशोक के उदाहरण से और बौद्धधर्म के प्रचार से लोगो में मास न खाने का प्रचार होने लगा। उस समय तक भारत के ब्राह्मण और क्षत्रिय आमतौर पर मास खाते थे और शराब पीते थे। अशोक के जमाने मे मास खाना और शराब पीना दोनो ही बहुत कम हो गये।

इस तरह अशोक ने ३८ वर्ष राज्य किया और वह शान्तिपूर्वक जनता की भलाई करने की पूरी-पूरी कोशिश करता रहा। सार्वजनिक काम के लिए वह हमेशा तैयार रहता था। उसके शब्द हैं—"हर समय और हर जगह पर—चाहे मै खाना खा रहा होऊ या रनिवास में होऊ, अपने सोने के कमरे म होऊ या मन्त्रणा-गृह मे होऊ, अपनी गाडी में बैठकर जाता होऊ या महल के बाग मे होऊ, सरकारी मुखबरो को चाहिए कि वे जनता के हाल-चाल की मुझे बराबर खबर देते रहे।" अगर कोई कठिनाई उठ खडी होती तो उसकी खबर तुरत उसे दी जानी जरूरी थी, क्योकि उसका कहना था कि "सार्वजनिक हित के लिए मुझे हरदम काम करना चाहिए।"

ईसा से २२६ वर्ष पहले अशोक की मृत्यु हो गई। मृत्यु के कुछ दिन पहले वह राज-पाट छोडकर बौद्ध भिक्खु हो गया था।

मौर्य-युग के बहुत कम चिह्न हमे मिलते है, लेकिन जो मिलते हैं, वे ही अभीतक की खोज के मुताबिक, भारत मे आर्य-सभ्यता के लगभग सबसे

पुराने चिह्न है। इस वक्त हम मोहनजोदडो के खडहरो का जिक्र छोडे देते है। बनारस के पास सारनाथ मे अशोक का सुन्दर स्तम्भ है, जिसके सिरे पर शेर बने हुए है।

अशोक की राजधानी पाटलिपुत्र के विशाल नगर का अब कोई निशान बाकी नही है। पन्द्रहसौ बरस पहले, यानी अशोक के छ सौ बरस बाद, फाहियान नाम का एक चीनी मुसाफिर पाटलिपुत्र आया था। उस समय यह नगर खूब उन्नत, मालदार और खुशहाल था, लेकिन तबतक अशोक का पत्थर का राजमहल खडहर हो चुका था। इन खडहरो ने ही फाहियान को बहुत प्रभावित किया और उसने अपनी यात्रा के विवरण मे लिखा है कि यह राजमहल मनुष्यो का बनाया हुआ नही मालूम होता था।

बडे भारी-भारी पत्थरो से बना हुआ राजमहल नष्ट हो गया और अपनी कोई निशानी नही छोड़ गया, लेकिन अशोक की कीर्त्ति एशिया के महाद्वीप भर में आज भी जिन्दा है और उसकी धर्मलिपियो में ऐसी बातें लिखी हुई है, जिनका भाव हम समझ सकते हैं और जिनकी कीमत हम पहचान सकते हैं। आज भी हम उनसे बहुत-कुछ सीख सकते है।

: ६ :

# ईसा और ईसाई-धर्म

ईसा या यीशु की कथा इजील के नये अहदनामे मे दी हुई है। ईसा की इन जीवन-कथाओ मे दिये हुए विवरणों मे उनकी जवानी के दिनो का कोई हाल नही दिया गया है। वह नासरत मे पैदा हुए, गैलिली में उन्होने प्रचार किया और तीस वर्ष से ज्यादा की उम्र में वह यरूशलम आये। इसके थोड़े ही दिन बाद रोमन गवर्नर पॉण्टियस पाइलेट के सामने उनपर मुकदमा चला और उसने इनको सजा दी। यह साफ नही मालूम होता कि अपना प्रचार शुरू करने के पहले ईसा क्या करते थे या कहा गये थे। मध्य एशिया भर में, काश्मीर में, लद्दाख में और तिब्बत में और इससे और भी उत्तर के देशो मे अभीतक लोगो का यह पक्का विश्वास है कि ईसा इन देशो में घूमे थे। कुछ लोगो का यह विश्वास है कि वह भारत भी आये थे। निश्चित रूप में कुछ

कहा नही जा सकता, लेकिन जिन विद्वानो ने ईसा की जीवनी का अध्ययन किया है, वे यह नही मानते कि ईसा भारत या मध्य एशिया मे आये थे। लेकिन अगर आये हो तो यह कोई नामुमकिन बात भी नही कही जा सकती। उस जमाने में भारत के बडे-बडे विश्वविद्यालय, खासकर उत्तर-पश्चिम का तक्षशिला का विश्वविद्यालय, ऐसे थे कि दूर-दूर देशो के उत्साही विद्यार्थी खिचकर यहा आते थे और मुमकिन है कि ईसा भी ज्ञान की तलाश में यहा आये हो। बहुत-सी बातो मे ईसा के सिद्धान्त गौतम के सिद्धान्तो से इतने ज्यादा मिलते-जुलते है कि यह बहुत मुमकिन मालूम होता है कि ईसा को गौतम के विचारो से पूरी-पूरी जानकारी थी। लेकिन बौद्धधर्म दूसरे मुल्को मे काफी प्रचलित था और इसलिए ईसा भारत आये बिना भी उसके बारे में अच्छी तरह से जान सकते थे।

धर्म के नाम पर मतभेद और घातक युद्ध हुए है। लेकिन ससार के मजहबो की शुरुआत पर गौर करना और उनकी तुलना करना बहुत दिलचस्प है। सब मजहबो के नजरियो और सिद्धान्तो में इतनी समानता है कि यह देखकर हैरत होती है कि लोग छोटी-छोटी और गैरजरूरी बातो के बारे में झगडा करने की बेवकूफी क्यो करते है। पुराने सिद्धातो मे नई-नई बातें जोड दी जाती है और उनको इस तरह तोड-मरोड दिया जाता है कि उनका पहचानना मुश्किल हो जाता है। सच्चे धर्म-प्रचारक की जगह तगदिल और हठ-धर्मी लोग आ बैठते है।

ईसा यहूदी थे। यहूदी एक अजीब और आश्चर्यजनक रूप से उद्यमी कौम थी और अब भी है। दाऊद और सुलेमान के जमाने में कुछ समय के वैभव के बाद उनके बुरे दिन आये। यह वैभव भी था तो बहुत छोटी मात्रा मे, लेकिन अपनी कल्पना में उन्होने उसे यहातक बढा-चढा दिया कि उनके लिए वह अतीत का एक सुवर्ण-युग बन गया और वे विश्वास करने लगे कि वह युग एक निश्चित समय पर फिर लौटेगा, और उस समय यहूदी कौम फिर महान और ताकतवर हो जायगी। वे लोग रोमन साम्राज्य-भर मे और दूसरे मुल्को में फैल गये, लेकिन अपने इस पक्के विश्वास के कारण वे आपस मे मजबूती से बधे रहे कि उनके वैभव के दिन आनेवाले है और एक मसीहा उन्हें वह दिन दिखायेगा।

प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय
मन्त्री, सस्ता साहित्य मण्डल
नई दिल्ली–१

पहली बार . १९६०
अल्पमोली-सस्करण
मूल्य . डेढ रुपया

मुद्रक
नेशनल प्रिंटिंग वर्क्स,
(दि टाइम्स ऑफ इडिया प्रेस)
दिल्ली

नाकामयाब रहा। उलटे इस लडाई मे ईसाई-धर्म की जीत हुई और ईसा की चौथी सदी के शुरू मे एक रोमन सम्राट खुद ईसाई हो गया और ईसाई-धर्म रोमन साम्राज्य का राज्य-धर्म बन गया। इस सम्राट का नाम कान्स्टेण्टाइन था, जिसने कुस्तुन्तुनिया नगर बसाया।

ज्यो-ज्यो ईसाई-धर्म फैला, त्यो-त्यो ईसा के देवत्व के बारे मे जबरदस्त लडाई-झगड़े पैदा हो गये। गौतम बुद्ध ने कभी देवत्व का दावा नहीं किया था, लेकिन फिर भी वह एक देवता और अवतार की तरह पूजे जाने लगे। इसी तरह ईसा ने भी खुदाई का कोई दावा नही किया था। ईसा ने जो बार-बार कहा है कि वह ईश्वर के पुत्र और मनुष्य के पुत्र है, उसका लाजिमी अर्थ यह नहीं है कि उन्होने खुदाई का या मनुष्यो से ऊपर होने का दावा किया था। लेकिन अपने महान पुरुषो को देवता का रूप दे देना और देवता के आसन पर बिठाने के बाद उनके उपदेशो को छोड देना मनुष्य-जाति को ज्यादा पसन्द है। छ सौ साल बाद पैगम्बर मुहम्मद ने एक और बडा मजहब चलाया, लेकिन शायद इन उदाहरणो से फायदा उठाकर उन्होने साफ-साफ और बार-बार यह कहा कि वह आदमी है, खुदा नही।

इस तरह ईसा के उपदेशो को समझने और उनपर अमल करने के बजाय, ईसाई लोग ईसा के देवत्व और ईसाई-त्रिपुटी के रूप के बारे मे तर्क-वितर्क और झगडे करने लगे। वे एक-दूसरे को काफिर कहने लगे एक-दूसरे पर अत्याचार करने लगे और एक-दूसरे का गला काटने लगे।

ज्यो-ज्यो ईसाई सघ की ताकत बढती गई, त्यो-त्यो ये घरेलू झगडे बढते गये। ईसाई-धर्म के विभिन्न सम्प्रदायो में इसी तरह के कुछ झगडे पश्चिमी देशो मे कुछ अरसे पहले तक होते रहे है।

यह जानकर ताज्जुब होता है कि इग्लैण्ड मे या पश्चिमी यूरोप में पहुचने के बहुत पहले और उस समय, जबकि रोम तक में वह तुच्छ और वर्जित सम्प्रदाय समझा जाता था, ईसाई-धर्म भारत मे आ पहुचा था। ईसा के मरने के करीब सौ साल के अंदर ही ईसाई धर्म-प्रचारक समुद्र के रास्ते दक्षिण भारत आये थे। उनके साथ शिष्टाचार का बर्ताव किया गया और उन्हें अपने नये मजहब के प्रचार करने की छूट दे दी गई। उन्होने बहुत-से लोगो को अपने मत का अनुयायी बनाया और ये लोग तब से आजतक दक्षिण

हैं तो हमारा दिल पसीज जाता है। बाद के युगो मे ईसाई-धर्म की जो तरक्की हुई, उसने करोडो के मन में ईसा के नाम के प्रति श्रद्धा पैदा कर दी, हालाकि उन लोगो ने उनके उपदेशो पर बहुत कम अमल किया है। लेकिन यह याद रखना चाहिए कि जब वह सूली पर चढाये गये थे, उनका नाम फिलस्तीन से बाहर के लोग ज्यादा नही जानते थे। रोम के लोग तो उनके बारे मे कुछ भी नही जानते थे और पॉण्टियस पाइलेट ने इस घटना को बिल्कुल ही महत्व नही दिया होगा।

ईसा के नजदीकी अनुयायियो और शिष्यो ने डर के मारे उन्हे अपना गुरु कहने से भी इन्कार कर दिया था। लेकिन ईसा की मृत्यु के कुछ ही दिन बाद पॉल नाम के एक नय अनुयायी ने, जिसने ईसा को खुद नही देखा था, अपनी समझ के मुताबिक ईसाई सिद्धान्तो का प्रचार करना शुरू कर दिया। बहुत-से लोगो का खयाल है कि जिस ईसाई-धर्म का पॉल ने प्रचार किया, वह ईसा के उपदेशो से बहुत भिन्न है। पॉल एक काबिल और विद्वान आदमी था, लेकिन वह ईसा की तरह सामाजिक विद्रोही नही था। बहरहाल पॉल काम-याब हुआ और ईसाई-मत धीरे-धीरे फैलने लगा। रोमन लोगो ने शुरू में इसे कोई महत्व नही दिया। उन्होने समझा कि ईसाई भी यहूदियो की ही कोई एक शाखा होगे, लेकिन ईसाइयो की जुर्रत बढने लगी। वे दूसरे तमाम धर्मों के कट्टर विरोधी बन गये और उन्होने सम्राट की मूर्ति की पूजा करने से बिल्कुल इन्कार कर दिया। रोमन लोग उनकी इस मनोवृत्ति को और अपनी निगाह में ईसाइयो की तगखयाली को समझ नही सके। इसलिए वे ईसाइयो को सनकी, लडाकू, असभ्य और इन्सानी तरक्कीका विरोधी समझने लगे। ईसाइयत को वे लोग शायद एक धर्म की हैसियत से बरदाश्त करने को तैयार हो जाते, लेकिन सम्राट की मूर्ति के सामने सर झुकाने से उनका इन्कार करना राजद्रोह समझा गया और उसकी सजा मौत करार दी गई। इसका नतीजा यह हुआ कि ईसाई सताये जाने लगे। उनकी जायदादे जब्त की जाने लगी और उन्हें शेरो का भोजन बनाया जाने लगा। लेकिन जब कोई आदमी किसी उसूल के लिए मरने को तैयार हो जाता है और ऐसी मौत में दरअसल गौरव महसूस करने लगता है तो उसे या उसके उसूल को दबाना नामुमकिन होता है। चुनाचे रोमन-साम्राज्य ईसाई-धर्म को दबाने मे बिल्कुल

की मातहती मे तिलमिलाते थे, जिससे असन्तोष बढता गया और लोगो के दिलो मे क्षोभ पैदा होने लगा। अन्त मे इन असन्तुष्ट लोगो को एक सुयोग्य नेता मिल गया और उसके झडे के नीचे इन्होने आर्यावर्त को आजाद करने के लिए एक 'धर्मयुद्ध' आरम्भ कर दिया।

इस नेता का नाम चन्द्रगुप्त था। वह पाटलिपुत्र का एक छोटा राजा था। यह अशोक की मृत्यु के ५३४ वर्ष बाद, यानी सन ३०८ ई० की बात है।

चन्द्रगुप्त एक महत्वाकाक्षी और सुयोग्य व्यक्ति था। वह उत्तर के दूसरे आर्य राजाओ को अपनी तरफ मिलाने मे और उन सबका एक सघ कायम करने मे लग गया। उसने मशहूर और शक्तिशाली लिच्छवी वश की कुमार देवी से विवाह किया और इस प्रकार इस जाति की सहायता प्राप्त कर ली। इस तरह होशियारी के साथ जमीन तैयार कर लेने के बाद चन्द्रगुप्त ने भारत के सारे विदेशी शासको के खिलाफ 'धर्मयुद्ध' की घोषणा कर दी। क्षत्रिय और आर्य-जाति के ऊचे वर्ग के लोग, जिनके अधिकार और पद विदेशियो ने छीन लिये थे, इस लड़ाई के समर्थक थे। बारह वर्ष की लडाई के बाद चन्द्रगुप्त उत्तर भारत के कुछ हिस्से पर कब्जा करने में कामयाब हुआ जिसमे वह हिस्सा भी शामिल था, जो आजकल उत्तर प्रदेश कहलाता है। इसके बाद वह राजराजेश्वर की पदवी धारण करके सिहासन पर बैठ गया।

इस तरह गुप्त राजवश की शुरुआत हुई। यह वश करीब दोसौ वर्ष तक चलता रहा। कुछ हद तक यह जमाना जबरदस्त हिन्दुत्व और राष्ट्र-वाद का था। तुर्की, पार्थव वगैरह अनार्य विदेशी शासक जड से उखाड फेके गये और जबरदस्ती निकाल बाहर किये गए। इस प्रकार यहा हम जातीय विद्वेष को काम करता हुआ देखते है। उच्च वर्ग के भारतीय आर्य लोग अपनी कौम पर अभिमान करते थे और इन बर्बरो और म्लेच्छो को नफरत की निगाह से देखते थे। गुप्तो ने जिन भारतीय आर्य राज्यो और राजाओ को जीता, उनके साथ रिआयत का बर्ताव किया; लेकिन अनार्यों के साथ कोई रिआयत नही की गई।

चन्द्रगुप्त का बेटा समुद्रगुप्त अपने बाप से भी ज्यादा जबरदस्त लडाका था। वह बहुत बडा सेनापति था और जब वह सम्राट हुआ तो उसने सारे देश मे, यहातक कि दक्षिण मे भी, सबको जीतकर अपनी विजय-

भारत मे सब तरह के दिन गुज़ारते हुए रहते आये है। उनमे से बहुत लोग ईसाई-धर्म के पुराने सम्प्रदायो के अनुयायी है, जिनकी अब यूरोप मे हस्ती तक नही है। आजकल इनमे से कुछ के सदर-मुकाम एशिया-कोचक मे हैं।

राजनैतिक दृष्टि से आजकल ईसाई-धर्म का बोलबाला है, क्योकि वह यूरोप की उन जातियो का धर्म है, जिनकी दुनिया मे तूती बोलती है, लेकिन जब हम अहिंसा का और सामाजिक व्यवस्था के खिलाफ विद्रोह का प्रचार करनेवाले विद्रोही ईसा की तुलना उनके आजकल के उन तथाकथित अनुयायियो से करते है, जो साम्राज्यवाद, शस्त्रास्त्रो, युद्धो और धन की पूजा में विश्वास करते है, तो यह खयाल हमे हैरत में डाल देता है। ईसा का 'पर्वत का उपदेश' और आजकल की यूरोप तथा अमरीका की ईसाईयत, इन दोनो में कितनी हैरतभरी असमानता है! इसलिए कोई ताज्जुब की बात नही अगर बहुत-से लोग यह सोचने लगे कि आजकल पश्चिम मे अपनेको ईसा के अनुयायी कहनेवाले अधिकाश लोगो के मुकाबले में बापू (गाधीजी) ईसा के उपदेशो के बहुत ज्यादा नजदीक हैं।

: ७ :

# गुप्त सम्राट

उत्तर भारत में अजीब हलचल मची हुई थी। छोटे-छोटे राज्य थे, जिनपर बहुत करके शक या सीदियन या तुर्की वश के लोग राज्य करते थे। ये लोग भारत की उत्तर-पश्चिमी सरहद पार करके यहा आये थे। ये लोग बौद्ध थे और भारत मे शत्रु के रूप मे हमला करने नही, बल्कि बसने आये थे। भारत मे आकर इन लोगो ने भारतीय आर्यो के आचार-विचार और ग-ढग को बहुत-कुछ अपना लिया। ये लोग भारत को सभ्यता, सस्कृति और धर्म की जननी मानते थे। ये भारतीय आर्यो की तरह आचरण करने की कोशिश करते थे और चाहते थे कि इस देश के निवासी यह भूल जाय कि वे विदेशी है। कुछ हद तक उनको इसमे कामयाबी हुई भी, लेकिन पूरे तौर पर नही, क्योकि क्षत्रियो के दिल में यह बात खास तौर पर खटकती थी कि विदेशी लोग उनपर हुकूमत कर रहे है। वे इस विदेशी राज्य

रामचन्द्र की कथा के साथ अमर बना दिया है, ज्यादा उपयुक्त साधन प्रस्तुत कर सकती है।

यह स्वाभाविक था कि गुप्त-सम्राटो ने आर्य-सभ्यता और हिन्दू-धर्म का पुनरुत्थान किया, उसका बौद्धधर्म के बारे मे कोई अच्छा रुख नही था। इसकी कुछ वजह तो यह थी कि यह आदोलन ऊचे वर्ग का था और उसे सहायता देनेवाले क्षत्रिय सरदार थे, और बौद्धधर्म मे लोकतन्त्र की भावना अधिक थी। कुछ वजह यह थी कि बौद्ध धर्म के महायान सम्प्रदाय का कुशानो और उत्तर भारत के दूसरे विदेशी शासको से घनिष्ठ सबध था। लेकिन फिर भी बौद्धधर्म पर कोई जुल्म किया गया हो, ऐसा नही मालूम होता। बौद्ध विहार कायम थे और तब भी बडी-बडी शिक्षा-सस्थाए बनी हुई थी। गुप्त-सम्राटो का लका के राजाओ के साथ मित्रता का सबध था और लका में बौद्धधर्म खूब फैला हुआ था। लका के राजा मेघवर्ण ने समुद्र-गुप्त के पास कीमती उपहार भेजे थे और उसने सिहली विद्यार्थियो के लिए गया में एक विहार भी बनवाया था।

लेकिन भारत में बौद्धधर्म धीरे-धीरे मिटने लगा। यह हालत इसलिए नही पैदा हुई कि ब्राह्मणो ने या उस जमाने की सरकार ने उसके ऊपर कोई बाहरी दबाव डाला, बल्कि इसलिए कि हिन्दूधर्म में उसे धीरे-धीरे हज्म कर लेने की ताकत थी।

इसी जमाने में चीन का एक मशहूर यात्री फाह्यान भारत में आया। बौद्ध होने के कारण यह बौद्धधर्म के पवित्र ग्रन्थो की तलाश में यहा आया था। उसने लिखा है कि मगध के लोग खुशहाल और सुखी थे, न्याय का पालन उदारता से किया जाता था और मौत की सजा नही थी। गया वीरान और उजडा हुआ था, कपिलवस्तु जगल हो चुका था, लेकिन पाटलिपुत्र के लोग "धनवान, खुशहाल और सदाचारी" थे। सम्पन्न और विशाल बौद्ध विहार बहुत थे। मुख्य सडको पर धर्मशालाए थी, जहा मुसाफिर ठहर सकते थे और जहा सरकारी खर्च से खाना दिया जाता था। बडे-बडे नगरो मे खैराती दवाखाने थे।

भारत में भ्रमण करने के बाद फाह्यान लका गया और वहा उसने दो वर्ष विताये। लेकिन उसके एक साथी ताओ-चिग को भारत इतना पसन्द

पताका फहराई । इसने गुप्त-साम्राज्य को इतना बढाया कि वह भारत के बहुत बडे हिस्से मे फैल गया । लेकिन दक्षिण में इसकी हुकूमत नाम-मात्र की थी । उत्तर में उसने कुशान लोगो को हटाकर सिन्ध नदी के उस पार खदेड दिया था ।

समुद्रगुप्त का बेटा चन्द्रगुप्त द्वितीय भी एक योद्धा राजा था । उसने काठियावाड और गुजरात को जीत लिया, जो बहुत दिनो से शक या तुर्की राजवश के शासन मे चले आ रहे थे । इसने अपना नाम विक्रमादित्य रखा और इसी नाम से वह मशहूर है । लेकिन यह नाम भी, सीजर की तरह, बहुत-से राजाओ की उपाधि बन गया, सलिए बहुत भ्रम पैदा करता है ।

दिल्ली मे कुतुबमीनार के पास एक बहुत भारी लोहे की लाट है । कहते है, विक्रमादित्य ने इस लाट को विजय-स्तम्भ के रूप मे बनवाया था । यह लाट कारीगरी का एक बढिया नमूना है । इसकी चोटी पर कमल का फूल है, जो गुप्त-साम्राज्य का चिह्न था ।

गुप्त-युग भारत में हिन्दू-साम्राज्यवाद का युग था । इस युग मे पुरानी आर्य-सस्कृति और सस्कृत विद्या का व्यापक रूप से पुनरुत्थान हुआ । सस्कृत राजभाषा थी, लेकिन उन दिनो भी वह जनता की आम भाषा नही थी । बोलने की भाषा प्राकृत का एक रूप थी, जो सस्कृत से बहुत-कुछ मिलती-जुलती थी । मगर हालाकि सस्कृत उस जमाने की लोक-भाषा नही थी, फिर भी वह काफी प्रचलित थी । इस युग में सस्कृत कविता, नाटक और कलाए खूब खिली । जिस महान युग में वेद और रामायण-महाभारत आदि महाकाव्य लिखे गये थे, उसके बाद सस्कृत-साहित्य के इतिहास मे शायद इसी जमाने मे सबसे अधिक और सबसे सुन्दर साहित्य लिखा गया । सस्कृत का अद्‌भुत कवि कालिदास इसी जमाने में हुआ । कहते है, विक्रमादित्य का दरबार बडी चमक-दमकवाला था, जिसमे उसने उस समय के सबसे उत्तम लेखको और कलाकारो को जमा किया था ।

समुद्रगुप्त अपने साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र से अयोध्या ले गया । शायद उसका यह खयाल था कि उसके कट्टर भारतीय-आर्य दृष्टि-कोण के लिए अयोध्या, जिसे महाकवि वाल्मीकि ने अपने महाकाव्य में

मे कन्नौज एक बडी राजधानी थी और अपने कवियो, कलाकारो और दार्शनिको के लिए मशहूर थी । कानपुर उस वक्त तक पैदा नही हुआ था और न कई सौ वर्षों बाद तक पैदा होनेवाला था ।

कन्नौज नया नाम है । इसका असली नाम कान्यकुब्ज अर्थात 'कुबडी लडकी' है । कथा है कि किसी प्राचीन ऋषि ने काल्पनिक अपमान से गुस्से में आकर एक राजा की सौ लडकियो को शाप दे दिया था, जिससे वे कुबडी हो गई थी । उस समय से यह शहर, जहा ये लडकिया रहती थी, 'कुबडी लडकियो का शहर' यानी कान्यकुब्ज कहलाने लगा ।

लेकिन सक्षेप के लिए हम इसको कन्नौज ही कहेगे। हूणो ने कन्नौज के राजा को मार डाला और उसकी रानी राज्यश्री को कैद कर लिया । राज्यश्री का भाई राजवर्धन अपनी बहन को छुडाने के लिए हूणो से लडने आया । उसने हूणो को तो हरा दिया, लेकिन धोखे से खुद मारा गया । इसपर उसका छोटा भाई हर्षवर्धन अपनी बहन राज्यश्री की तलाश मे निकला । यह बेचारी किसी तरह से निकलकर पहाडो मे जा छिपी थी और अपनी मुसीबतो से परेशान होकर उसने आत्महत्या का निश्चय कर लिया था। कहते है, वह भस्म होने जा ही रही थी कि हर्ष ने ढूढ लिया और उसकी जिदगी बचा ली ।

अपनी बहन को पाने और बचाने के बाद हर्ष ने पहला काम यह किया कि उस नीच राजा को, जिसने उसके भाई को धोखे से मार डाला था, सजा दी । और उसने सिर्फ इस नीच राजा को ही सजा नही दी, बल्कि सारे उत्तर भारत को बगाल की खाडी से अरब के समुद्र तक और दक्षिण मे विध्य पर्वत तक जीत लिया । विन्ध्याचल के बाद चालुक्य-साम्राज्य था और हर्ष को यहा रुकना पडा ।

हर्षवर्धन ने कन्नौज को अपनी राजधानी बनाया । वह खुद कवि और नाटककार था, इससे उसके पास कवि और कलाकार जमा हो गये और कन्नौज एक मशहूर शहर हो गया । हर्ष पक्का बौद्ध था । इस समय बौद्ध धर्म, एक अलग धर्म की हैसियत से, भारत में बहुत कमजोर पड चुका था । ब्राह्मण इसको हज्म करते जा रहे थे । हर्ष भारत का आखिरी महान बौद्ध सम्राट हुआ है ।

आया और बौद्ध भिक्खुओ की धर्म-परायणता का उसपर इतना असर पडा कि उसने यही रहने का निश्चय कर लिया। फाह्यान समुद्री रास्ते लका से चीन चला गया और रास्ते मे बहुत-सी आपदाए झेलता हुआ वर्षों बाद अपने घर पहुचा।

चन्द्रगुप्त द्वितीय या विक्रमादित्य ने तेईस वर्ष राज्य किया। उसके बाद उसके पुत्र कुमारगुप्त ने चालीस वर्ष तक राज्य किया। फिर सन् ४५३ ई० मे स्कन्दगुप्त गद्दी पर बैठा। इसे एक नये खतरे का सामना करना पडा, जिसने अन्त मे महान गुप्त-साम्राज्य की कमर ही तोड दी।

अजन्ता की गुफाओ की दीवारो पर बने हुए कई सर्वोत्तम चित्र और उनके बडे-बडे कमरे तथा उपासना-गृह गुप्त-काल की कला के नमूने हैं। उन्हें देखने पर पता चलता है कि ये कितने अद्भुत है। बदकिस्मती से वहा के चित्र धीरे-धीरे मिटते जा रहे है, क्योकि मौसम की तब्दीलियो में वे बहुत वर्षो तक नही टिक सकते।

चन्द्रगुप्त प्रथम कुस्तुतुनिया को बसानेवाले रोमन सम्राट कास्टेटाइन महान का समकालीन था। समुद्रगुप्त को कुछ लोग भारत का 'नेपोलियन' कहते, हैं लेकिन महत्वाकाक्षी होते हुए भी उसने भारत की सीमाओ के बाहर के देशो को जीतने का विचार नही किया।

गुप्त-युग जबरदस्त साम्राज्यवाद और देश-विजयो का जमाना था। लेकिन हरएक मुल्क के इतिहास में इस तरह के युग अनेक बार आते है और अन्त में जाकर इनका कुछ महत्व नही रहता। फिर भी गुप्त-युग की विशेषता, जिसके कारण वह भारत में कुछ गौरव के साथ याद किया जाता है, इस बात में है कि उसमें कला और साहित्य का चमत्कारी पुनरुत्थान हुआ।

: ८ :

# हर्षवर्धन और ह्युएनत्सांग

कानपुर से थोडी दूर कन्नौज नाम का छोटा-सा नगर है। कानपुर आजकल एक बडा शहर है। जिस जमाने का जिक्र मैं कर रहा हू, उस जमाने

# प्रकाशकीय

प० जवाहरलाल नेहरू की वैसे तो सभी पुस्तके बहुत ही लोकप्रिय है, लेकिन उनकी अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति की पुस्तको मे 'विश्व इतिहास की झलक' का महत्त्वपूर्ण स्थान है। पाठक जानते है कि वह इतिहास की कोई सामान्य पुस्तक नही है, उसमे लेखक ने ससार के इतिहास का एक नये दृष्टिकोण से सिहावलोकन किया है और इस प्रकार भारत के ही नही, ससार के पाठको के लिए वह एक विशिष्ट ग्रथ बन गया है।

प्रस्तुत पुस्तक की सामग्री इसी ग्रथ से ली गई है। विद्वान लेखक ने अपने विशाल ग्रथ मे ऐसे अनेक महापुरुषो का वर्णन किया है, जिन्होने इतिहास की धारा को एक नया मोड दिया अथवा अध्यात्म, दर्शन, साहित्य, कला और सस्कृति के क्षेत्र मे इतना ऊचा काम किया कि उनका नाम सदा के लिए अमर हो गया।

इस पुस्तक का आरभ आज से लगभग ढाई हजार वर्ष पहले के दो महापुरुप बुद्ध और महावीर के वर्णन से होता है और फिर ससार के चुने हुए राजनेताओ, शासको, तत्त्ववेत्ताओ, साहित्य और कला के उन्नायको आदि का विवेचन करते हुए तुर्की के महान नेता मुस्तफा कमाल पाशा के साथ इसका अत हो जाता है। इसमे कोई सदेह नही कि जिन चरित्रो को इस पुस्तक मे लिया गया है, उनके जीवनवृत्त आज भी हमें प्रेरणा देते है।

स्वतत्र देश के प्रत्येक नागरिक के लिए विश्व के इतिहास की जानकारी आवश्यक है, विशेषकर नई पीढी के लिए, जो देश का नवनिर्माण

हर्ष के राज-काल मे ह्य ुएनत्साग भारत आया था और उसके यात्रा-वर्णन मे, जो उसने भारत से लौटकर लिखा था, भारत का और मध्य-एशिया के उन मुल्को का, जिनसे होकर वह भारत आया था, बहुत-कुछ हाल मिलता है । ह्य ुएनत्साग एक धर्मपरायण बौद्ध था और वह बौद्ध धर्म के पवित्र स्थानो की यात्रा करने और इस धर्म की पुस्तके अपने साथ ले जाने के लिए भारत आया था । यह गोवी के रेगिस्तान को पार करके आया था और रास्ते मे उसने ताशकन्द, समरकन्द, बलख, खुतन, यारकन्द आदि कई मशहूर स्थानो की यात्रा की थी। वह सारे भारत मे घूमा और शायद लका भी गया था। इसकी किताब अनेक बातो का एक आश्चर्य-जनक और चित्ताकर्षक कबाडखाना है, जिसमें उन देशो का सच्चा दिग्दर्शन है, जहा-जहा ह्य ुएनत्साग गया था, भारत के भिन्न-भिन्न भागो के निवासियो के आश्चर्यजनक चरित्र-चित्रण है, जो आज भी सही मालूम होते है, अद्भुत कहानिया है, जो ह्य ुएनत्साग ने यहा सुनी थी, और बुद्ध तथा बोधिसत्वो के चमत्कारो की अनेक कथाए है ।

ह्य ुएनत्साग ने बहुत वर्ष भारत में बिताये, खासकर नालन्दा के विश्व-विद्यालय में, जो पाटलिपुत्र के पास था । कहते है, नालन्दा में, जो मठ और विश्वविद्यालय दोनो था, दस हजार विद्यार्थी और भिक्खु रहा करते थे। यह बौद्ध विद्या का बडा केन्द्र था और बनारस का, जो ब्राह्मण-विद्या का केन्द्र समझा जाता था, प्रतिद्वन्द्वी था ।

ह्य ुएनत्साग सन ६२९ ई० में भारत आया। चीन से जब इसने अपनी यात्रा शुरू की, इसकी उम्र २६ साल की थी । एक पुरानी चीनी पुस्तक में लिखा है कि ह्य ुएनत्साग सुन्दर और लम्बा था । "उसका रंग मनोहर और आखें चमकदार थी, चाल-ढाल गम्भीर और शानदार थी और उसके चेहरे से आकर्षण और तेज बरसते थे । . 　　उसमें पृथ्वी को चारो ओर घेरनेवाले विशाल समुद्र की-सी गभीरता थी और जल मे पैदा होनेवाले कमल के समान शान्ति और सुषमा थी ।"

बौद्ध भिक्खु का केसरिया बाना पहनकर यह अकेला अपनी कठिन यात्रा पर चल पडा, हालाकि चीनी सम्राट ने इसे इजाजत नही दी थी। इसने गोवी का रेगिस्तान पार किया और जब यह सब कठिनाइया झेलकर

तुरफान के राज्य मे पहुचा, जो इस रेगिस्तान के किनारे पर ही था, तो सिर्फ इसकी जान ही बाकी थी। तुरफान का रेगिस्तानी राज्य सभ्यता और संस्कृति का छोटा-सा एक अजीब नखलिस्तान था। आज यह एक वीरान जगह है, जहा पुरातत्ववेत्ता और इतिहासवेत्ता पुराने खण्डहरो की तलाश में जमीन खोदते फिरते है। लेकिन सातवी सदी मे जब ह्यु एनत्साग यहा से गुजरा था, तुरफान एक उच्च सस्कृति का और जीवन से भरा-पूरा देश था। इसकी सस्कृति मे भारत, चीन, ईरान और कुछ अशो मे यूरोप की सस्कृतियो का अजीब मेल था। यहा बौद्धधर्म का प्रचार था और सस्कृत के कारण भारतीयता का प्रभाव भी स्पष्ट दिखाई देता था। फिर भी इस देश का रहन-सहन ज्यादातर चीन और ईरान से लिया हुआ था। सबसे आश्चर्य की बात तो यह है कि यहा पत्थर की दीवारो पर जो चित्र है, उनकी आकृतिया यूरोपीय ढाचे की है। पत्थर पर बने हुए बुद्ध और बोधि-सत्व, देवियो और देवताओ के ये चित्र बडे ही सुन्दर है। देवियो की मूर्तिया या तो भारतीय पोशाक मे हैं, या उनके मुकुट और पोशाक यूनानी है।

तुरफान अब भी है, लेकिन अब यह कोई महत्व की जगह नही है। कितने ताज्जुब की बात है कि इतने दिन पहले, सातवी सदी मे, संस्कृति की भरपूर धाराए दूर-दूर के देशो से आकर इस जगह मिली और मिलकर इनका एक सामजस्यपूर्ण नया रूप बन गया।

तुरफान से ह्यु एनत्साग कूचा गया। यह उस जमाने मे मध्य-एशिया का एक दूसरा मशहूर केन्द्र था। इसकी सभ्यता शानदार चमक-दमक-वाली थी और यहां के गायक तथा यहा की स्त्रियो की सुन्दरता खास तौर पर मशहूर थी। इस देश का धर्म और कला भारत की थी। ईरान ने इसे सस्कृति और व्यापारी माल दिया था और इसकी भाषा सस्कृत, पुरानी फारसी, लैटिन और केल्टिक से मिलती-जुलती थी। यह भी एक चित्ता-कर्षक मिश्रण था।

इसके बाद वह तुर्को के मुल्क से होकर गुजरा, जहा का राजा 'महान खान', जो बौद्ध था, मध्य-एशिया के ज्यादातर हिस्से पर राज्य करता था। इसके बाद वह समरकन्द पहुचा, जो उस समय भी एक पुराना शहर माना

जाता था और जिसके साथ सिकन्दर की यादगार जुडी हुई थी, क्योकि करीब एक हजार वर्ष पहले सिकन्दर यहा से होकर गुजरा था। फिर वह बलख गया और वहा से काबुल नदी की घाटी पारकर काश्मीर होता हुआ भारत में आया।

यह जमाना चीन मे ताग राज-वश के शुरू का था, जब चीन की राजधानी सी-आन-फू कला और विद्या का केन्द्र थी और सभ्यता मे चीन दुनिया के सब देशो से आगे था। इसलिए याद रखना चाहिए कि ह्यू एनत्साग बहुत ऊची सभ्यता के इस देश से आया था और तुलना करने मे उसका आदर्श काफी ऊचा रहा होगा। इसीलिए भारत की हालत के बारे में उसका बयान बहुत महत्वपूर्ण और कीमती है। उसने भारतवासियो की और उनके शासन की बहुत तारीफ की है। वह कहता है

"हालाकि भारत के साधारण लोग स्वभाव से बेपरवाह होते है, फिर भी वे ईमानदार और इज्जतवाले है। रुपये-पैसे के मामले मे इनमे कोई मक्कारी नही पाई जाती और इन्साफ करने में ये दयाशील होत है। आचरण मे न उनमें धोखेबाजी है, न विश्वासघात, और ये लोग अपनी बातो के और वादो के पक्के है। शासन के नियमो मे इनका सिद्धान्तो पर आग्रह एक विशेषता है और इनके व्यवहार मे बहुत सज्जनता और मिठास है। अपराधियो और बागियो की तादाद यहा बहुत ही कम है और उनके कारण कभी-कभी ही परेशानी उठानी पडती है।"

वह आगे लिखता है—"चूकि सरकारी शासन का आधार उदार सिद्धान्तो पर है, इसलिए शासन-विभाग पेचीदा नही है। लोगो से बेगार नही ली जा सकती।"…"इस तरह लोगो पर करो का बोझ बहुत हलका है और उनसे मामूली काम लिया जाता है। हरएक आदमी अपनी सासारिक सम्पत्ति का शान्तिपूर्वक उपभोग करता है और सभी लोग अपनी रोजी के लिए हल चलाते है। जो लोग सरकारी जमीन मे खेती करते है, उन्हें उपज का छठा हिस्सा लगान में देना पडता है। धन्धा करनेवाले व्यापारी अपने काम के लिए आजादी से इधर-उधर आ-जा सकते है।"

ह्यू एनत्साग ने देखा कि जनता के लिए शिक्षा की व्यवस्था अच्छी

थी और बच्चो की शिक्षा जल्दी शुरू कर दी जाती थी। पहली किताब खतम करने के बाद लडके या लडकी की सात वर्ष की उम्र से ही पाचों शास्त्रो की पढाई शुरू कर दी जाती थी। आजकल शास्त्र का मतलब सिर्फ धर्म-पुस्तक समझा जाता है, लेकिन उस समय शास्त्र का मतलब सब तरह का ज्ञान था। पाच शास्त्र ये थे—१ व्याकरण २ कला-कौशल का विज्ञान ३. आयुर्वेद ४. न्याय और ५ दर्शन। इन विषयो की शिक्षा विश्वविद्यालयो मे होती थी, और साधारण तौर पर तीस साल की उम्र में पूरी हो जाती थी। मेरा खयाल है कि बहुत लोग इस उम्र तक न पढ सकते होंगे। लेकिन यह मालूम होता है कि प्रारभिक शिक्षा काफी फैली हुई थी। ह्युएनत्साग पर भारतवासियो के विद्या-प्रेम का बहुत असर पडा था। अपनी सारी किताब मे वह इस बात का जिक्र करता है।

उसने प्रयाग के बडे कुम्भ मेले का भी जिक्र किया है। इससे पता लगता है कि उस समय भी यह मेला बहुत प्राचीन था और ठेठ वैदिक काल से चला आ रहा था। इस प्राचीन परम्परा के मेले के मुकाबले में हमारा शहर इलाहाबाद अभी कल का शहर है। इस शहर को ४०० वर्ष से कम हुए, अकबर ने बसाया था। प्रयाग इससे बहुत ज्यादा पुराना है। लेकिन प्रयाग से भी पुराना वह आकर्षण है, जो हजारो वर्षो से लाखो यात्रियो को हर वर्ष गगा और जमुना के संगम पर खीच लाता है।

ह्युएनत्साग लिखता है कि बौद्ध होते हुए भी हर्ष इस शुद्ध हिन्दू मेले में जाया करता था। उसकी तरफ से शाही आज्ञा-पत्र जारी किया जाता था, जिसमें 'पच हिन्द' के सब गरीबो और मुहताजो को मेले में आकर उसका मेहमान होने के लिए निमन्त्रित किया जाता था। किसी सम्राट के लिए भी इस तरह का निमत्रण देना बडे हौसले का काम था। कहने की जरूरत नही कि बहुत-से आदमी आते थे और रोज करीब एक लाख आदमी हर्ष के यहा भोजन करते थे। इस मेले में हर पाचवे वर्ष हर्ष अपने खजाने की सारी बचत, सोना, जेवर, रेशम वगैरह, जो कुछ उसके पास होता था—सब बाट देता था। एक बार उसने अपना राजमुकुट और कीमती पोशाक भी दे डाली थी और अपनी बहन राज्यश्री से एक पुराना मामूली कपडा, जो पहले पहना जा चुका था, लेकर पहना था।

श्रद्धालु बौद्ध होने के कारण हर्ष ने खाने के लिए जानवरो का मारा जाना बन्द कर दिया था। ब्राह्मणो ने इसपर शायद ऐतराज नही किया, क्योकि वुद्ध के वाद से ये लोग अधिकाधिक निरामिपभोजी हो गये थे।

ह्युएनत्साग की किताव मे एक वडी मजेदार वात है। वह लिखता है कि भारत मे जब कोई आदमी बीमार पडता था तो वह तुरन्त सात दिन का लघन कर डालता था। वहुत लोग तो लघन के दौरान मे ही अच्छे हो जाते थे। लेकिन अगर वीमारी फिर भी कायम रहती तो दवा लेते थे। उस जमाने मे वीमार पडना अच्छी बात नही समझी जाती रही होगी, और न वैद्य लोगो की ही ज्यादा माग रही होगी।

उस जमाने मे भारत मे एक मार्के की बात यह थी कि शासक और सेनाधिकारी विद्वानो और शीलवानो की वहुत इज्जत करते थे। भारत मे और चीन मे इस बात की जान-बूझकर कोशिश की गई और इसमे खूब सफलता भी हुई कि विद्या और सस्कृति को इज्जत की जगह मिले, पाशविक वल या धन-दौलत को नही।

भारत मे वहुत वर्ष विताने के वाद ह्युएनत्साग फिर उत्तरी पहाडो को पार करता हुआ अपने देश लौट गया। सिन्ध नदी मे वह डूवते-डूबते बचा और इसके साथ की वहुत-सी कीमती कितावे वह गई। फिर भी वह हाथ से लिखी बहुत-सी कितावे अपने साथ ले गया और बहुत सालो तक इन कितावो का चीनी भापा मे अनुवाद करने मे लगा रहा। ताग सम्राट ने सी-आन-फू मे उसका वडे प्रेम से स्वागत किया और इसी सम्राट के कहने पर इसने अपनी यात्रा का हाल लिखा था।

उस जमाने के यात्री अद्भुत होते थे। आजकल की अफरीका के अन्दर के मुल्को की यात्रा या उत्तरी अथवा दक्षिणी ध्रुव की यात्राए तक भी पुराने जमाने की इन महान यात्राओ के मुकावले मे तुच्छ नज़र आती है। पहाडो और रेगिस्तानो को पार करते हुए और वर्षो अपने मित्रो और परिवार से विछुडे हुए ये लोग मजिल-दर-मजिल आगे वढते जाते थे। शायद कभी-कभी इन्हे अपने घर की याद भी आती थी, लेकिन उनमे इतना आत्म-गौरव था कि इस वात को जवान पर नही लाते थे। फिर भी एक यात्री ने अपने मन की हलकी-सी झलक हमे दी है। उसने लिखा है कि जब वह

एक दूर देश में खडा था, उसे अपने घर की याद आई, और वह व्याकुल हो गया। इस यात्री का नाम सुगयुन था और यह भारत मे ह्युएनत्सांग से सौ वर्ष पहले आया था।

: ६ :

## शंकराचार्य

एक असाधारण बात मालूम होती है कि कोई आदमी सिर्फ अपनी बुद्धि के बल पर एक महान नेता बन जाय और फिर करोडो आदमियो पर और इतिहास पर अपनी छाप डाल दे। बडे योद्धा और विजेता इतिहास मे विशेष स्थान पा जाते है। वे या तो लोकप्रिय हो जाते है या घृणा के पात्र, और कभी-कभी वे इतिहास पर भी प्रभाव डालते है। महान धार्मिक नेताओ ने करोडो के दिलो को हिला दिया है और उनमें जोश की आग भर दी है। लेकिन यह सबकुछ हमेशा श्रद्धा के आधार पर हुआ है। उन्होने भावनाओ को अपील की है और उन्हें प्रभावित किया है।

मन और बुद्धि को जो अपील की जाती है, उसका असर बहुत ज्यादा नही होता। बदकिस्मती से ज्यादातर लोग विचार नही करते। वे तो सिर्फ महसूस करते है और अपनी भावनाओ के अनुसार बर्ताव करते है, लेकिन शकर की अपील मन और बुद्धि को और विवेक को ही होती थी। वह किसी पुरानी किताब में लिखे रूढ मत को नही दुहराता था। उसका तर्क ठीक था या गलत, इसका विचार इस समय फिजूल है। दिलचस्पी की बात तो यह है कि उसने धार्मिक समस्याओ पर बौद्धिक दृष्टि से विचार किया। इससे भी ज्यादा दिलचस्प यह बात है कि इस तरीके को इख्तियार करने मे उसने सफलता पाई। इससे हम उस समय के शासक-वर्ग की मनोदशा की एक झलक मिलती है।

हिन्दू दार्शनिको मे एक आदमी चार्वाक नाम का भी हुआ है, जिसने अनीश्वरवाद का प्रचार किया है, यानी वह कहा करता था कि ईश्वर नही है। आज बहुत-से ऐसे आदमी है, खासकर रूस में, जो ईश्वर में विश्वास नही करते। लेकिन यहा हमे इस प्रश्न की गहराई मे जाने की जरूरत नही है। मतलब की बात यह है कि पुराने जमाने में भारत में विचार और प्रचार की कितनी स्वतन्त्रता थी। वह अन्त करण की स्वतन्त्रता का युग था। यह बात यूरोप मे अभीतक नही थी और आज भी इस सबध में कुछ बन्दिशे हैं।

शकर के छोटे-से, किन्तु कठोर परिश्रम के जीवन से दूसरी बात यह साबित होती है कि सारे भारत में सास्कृतिक एकता थी। यह एकता प्राचीन इतिहास में लगातार स्वीकार की गई है। भूगोल की दृष्टि से,

भारत करीब-करीब एक इकाई है। राजनैतिक दृष्टि से भारत में अक्सर विभेद रहा है, हालाकि कभी-कभी सारा देश एक ही केन्द्रीय शासन में भी रहा। लेकिन सस्कृति के लिहाज़ से यह देश हमेशा से एक रहा, क्योकि इसकी पृष्ठभूमि, इसकी परम्पराए, इसका धर्म, इसके वीर और वीरागनाए, इसकी पौराणिक गाथाए, इसकी विद्वत्ता से भरी भाषा (सस्कृत), देशभर में फैले हुए इसके तीर्थस्थान, इसकी ग्राम-पचायतें, इसकी विचार-धारा और इसका राजनैतिक सगठन, शुरू से एक ही चले आ रहे है। साधारण भारतवासी की नज़र मे सारा भारत 'पुण्यभूमि' था और बाकी दुनिया अधिकतर म्लेच्छो का और बर्बरो का निवास-स्थान थी। इस प्रकार भारत में भारतीयता की एक व्यापक भावना पैदा हुई, जिसने देश के राजनैतिक विभाजन की परवा नही की, बल्कि उसपर विजय प्राप्त की।

शकर का अपने सन्यासियो के मठो के लिए भारत के चारो कोनो को चुनना इस बात का सबूत है कि वह भारत को सास्कृतिक इकाई समझता था और उसके आन्दोलन की थोडे ही समय मे महान सफलता यह भी जाहिर करती है कि बौद्धिक और सास्कृतिक धाराए कितनी तेजी से देश के एक कोने से दूसरे कोने तक पहुच गई।

शकर ने शैव मत का प्रचार किया। यह मत दक्षिण मे खासतौर से फैला, जहा ज्यादातर शिव के पुराने मन्दिर है। उत्तर मे गुप्तो के जमाने मे वैष्णव धर्म का और कृष्ण की पूजा का फिर से बहुत प्रचार हुआ। हिन्दू-धर्म के इन दोनो सम्प्रदायो के मन्दिर एक-दूसरे से बिल्कुल भिन्न है।

: १० :

# हज़रत मुहम्मद और इस्लाम

इस्लाम ने अरबो को जगाया, उनमे आत्म-विश्वास और जोश भर दिया। इस मज़हब को पैगम्बर मुहम्मद ने, जो मक्का में ५७० ई० मे पैदा हुए थे, चलाया था। उन्हे इस मजहब के चलाने की कोई जल्दी नही थी। वह शान्ति की जिन्दगी गुजारते थे, और मक्का के लोग उनको चाहते थे और उनपर विश्वास करते थे। वास्तव में लोग उन्हें 'अल्

अमीन' या अमानतवाला कहा करते थे। लेकिन जब उन्होंने अपने नये मजहब का प्रचार शुरू किया, और खासकर जब वह मक्का की मूर्तियो की पूजा का विरोध करने लगे तो बहुत-से लोगो ने उनके खिलाफ बडा हल्ला मचाया और आखिर उनको अपनी जान बचाकर मक्का से भागना पडा। सबसे ज्यादा वह इस बात पर जोर देते थे कि ईश्वर सिर्फ एक है और खुद मुहम्मद उसका रसूल है।

मक्का से अपने ही लोगो द्वारा भगा दिये जाने पर, उन्होने यथरीब मे अपने कुछ दोस्तो और सहायको के यहा आश्रय लिया। मक्का से उनके इस कूच को अरबी जबान मे 'हिजरत' कहते है और मुसलमानी सम्वत उसी वक्त, यानी सन ६२२ ई० से शुरू होता है। यह हिजरी सम्वत चान्द्र-सम्वत है, यानी इसमें चन्द्रमा के अनुसार तिथियो का हिसाब लगाया जाता है। इसलिए सौर वर्ष से, जिसका आजकल आमतौर पर प्रचार है, हिजरी साल ५-६ दिन कम का होता है। हिजरी सम्वत के महीने हर साल एक ही मौसम मे नही पडते। हिजरी सम्वत का एक महीना अगर इस साल जाडे मे है तो कुछ वर्षों के बाद वही महीना बीच गरमी मे पड सकता है।

हम ऐसा कह सकते है कि इस्लाम तबसे शुरू हुआ, जब मुहम्मद मक्का से भागे, या उन्होने 'हिजरत' की, यानी सन ६२२ ई० से, हालाकि एक लिहाज से इस्लाम इसके पहले शुरू हो चुका था। यथरीब शहर ने मुहम्मद का स्वागत किया और इस उपलक्ष में इस शहर का नाम बदलकर 'मदीनत-उन-नबी' यानी 'नबी का शहर' कर दिया गया आजकल सक्षेप मे इसको सिर्फ मदीना कहते है। मदीना के जिन लोगो ने मुहम्मद की मदद की थी, वे 'असार' कहलाये। असार का मतलब है मददगार। इन मददगारो के वशज अपने इस खिताब पर अभिमान करते थे और अभीतक इसका इस्तेमाल करते है।

हिजरत के बाद सात वर्ष के अन्दर ही मुहम्मद मक्का के स्वामी के रूप मे ही वहा लौटे। इसके पहले ही वह मदीना से दुनिया के बादशाहो और शासको के पास यह पैगाम भेज चुके थे कि वे एक ईश्वर और उसके रसूल को मजूर करें। इन बादशाहो और शासको को बडा ताज्जुब हुआ होगा कि आखिर यह अनजान आदमी कौन है, जो उनके

पास हुक्म भेजने की जुर्रत करता है ! इन पैगामो के भेजने से ही हम कुछ अन्दाज लगा सकते है कि मुहम्मद को अपने मे और अपने मिशन में कितना जबरदस्त विश्वास था । इसी आत्म-विश्वास और ईमान को उन्होने अपनी कौम मे भर दिया और इसीसे प्रेरणा और सात्वना प्राप्त करके रेगिस्तान के इन लोगो ने, जिनकी पहले कोई हैसियत नही थी, उस समय की आधी दुनिया को जीत लिया ।

विश्वास और ईमान खुद तो बडी चीजे थे ही । साथ ही इस्लाम ने भाईचारे का, यानी सब मुसलमान बराबर है, इसका भी सन्देश दिया । इस प्रकार कुछ हद तक लोकतन्त्र का सिद्धान्त लोगो के सामने आया । भाईचारे के इस सन्देश ने सिर्फ अरबो पर ही नही, बल्कि जहा-जहा वे गये, उन अनेक देशो के निवासियो पर भी, बडा भारी असर डाला होगा ।

मुहम्मद सन ६३२ ई० में, हिजरत के दस वर्ष बाद, मर गये । उन्होने अरब देश की आपस मे लडनेवाली अनेक जगली कौमो को सगठित करके एक नया राष्ट्र बनाया और उनमें एक आदर्श के लिए जबरदस्त जोश भर दिया । इनके बाद इनके खान्दान के एक व्यक्ति अबूबकर खलीफा हुए । उत्तराधिकारी चुनने का यह काम आम सभा मे सरसरी तौर के चुनाव से होता था । दो वर्ष बाद अबूबकर मर गये और उमर उनकी जगह पर खलीफा बनाये गये । यह दस वर्ष तक खलीफा रहे ।

अबूबकर और उमर महान आदमी थे, जिन्होने अरबी और इस्लामी महानता की बुनियाद डाली । खलीफा की हैसियत से वे धर्माध्यक्ष और राजनैतिक प्रमुख, यानी बादशाह और पोप, दोनो थे । अपने ऊचे ओहदे और राज्य की दिन-दिन बढनेवाली ताकत के होते हुए भी, उन्होने अपने जीवन की सादगी नही छोडी और ऐश-आराम और ऊपरी शान-शौकत से कतई इन्कार कर दिया । इस्लाम का लोकतन्त्र इनके लिए एक जिन्दा चीज थी । लेकिन इनके मातहत हाकिम और अमीर लोग बहुत जल्द ऐश-आराम और शान-शौकत मे फस गये । अबूबकर और उमर ने किस तरह बार-बार इन अफसरो की लानत-मलामत की और उन्हे सजा दी, यहातक कि इनकी फिजूलखर्ची पर आसू भी बहाये, इसके बहुत-से किस्से बयान किये जाते है । इनकी धारणा थी कि सीधे-सादे और कठोर

रहन-सहन में ही इनकी ताकत है और अगर इन्होने कुस्तुतुनिया और ईरान के वादशाही दरवारो का-सा ऐश-आराम अख्तियार कर लिया तो अरब लोग भ्रष्ट हो जायगे और उनका पतन हो जायगा।

अवूवकर और उमर का शासन वारह वर्ष रहा। लेकिन इस थोडे-से समय मे ही अरवो ने पूर्वी रोमन साम्राज्य और ईरान के सासनी वादशाह दोनो को हरा दिया था। यहूदियो और ईसाइयो के पवित्र शहर यरूशलम पर अरवो ने कब्जा कर लिया था और सारा सीरिया, इराक और ईरान इस नये अरवी साम्राज्य का हिस्सा वन चुका था।

दूसरे कुछ मजहवो के सस्थापको की तरह मुहम्मद भी उस समय की वहुत-सी सामाजिक प्रथाओ के विरोधी थे। जिस मजहव का उन्होने प्रचार किया, उसकी सादगी, सफाई, लोकतन्त्र और समता की सुगन्ध ने आस-पास के देशो की जनता के दिलो को खीच लिया। निरकुश राजाओ ने और राजाओ की ही तरह निरकुश और जालिम पुजारियो ने जनता को वहुत दिनो से पीस रखा था। लोग पुराने ढगो से तग आ गये थे और तब्दीली के लिए तैयार वैठे थे। इस्लाम ने यह तब्दीली उनके सामने रखी और इसका उन्होने स्वागत किया, क्योकि इसकी वजह से उनकी हालत वहुत-सी वातो मे वेहतर होगई, और वहुत-सी पुरानी वुराइया खत्म हो गई। इस्लाम के साथ कोई ऐसी वडी सामाजिक क्रान्ति नही आई, जिससे जनता का शोषण खतम हो गया होता, लेकिन जहातक मुसलमानो का सम्बन्ध था, यह शोषण वास्तव मे कम हुआ और वे महसूस करने लगे कि वे सव एक ही महान विरादरी के लोग है।

: ११ :

# महमूद गजनवी

हारू-अल-रशीद के वाद खलीफा कमजोर हो गये और एक समय आया जव खलीफाओ का यह साम्राज्य कई स्वतन्त्र राज्यो मे विभाजित हो गया। सुवुक्तगीन नाम के एक तुर्की गुलाम ने सन ९७५ ई० के लगभग गजनी और कधार में अपना एक राज्य कायम कर लिया। उसने भारत

पर भी हमला किया। उन दिनो लाहौर का राजा जयपाल था। साहसी जयपाल सुबुक्तगीन के खिलाफ काबुल की घाटी पर जा चढा, पर वहां उसकी हार हो गई।

सुबुक्तगीन के बाद उसका बेटा महमूद गद्दी पर बैठा। यह एक तेजस्वी सेनापति और घुडसवारो की सेना का कुशल नायक था। हर साल वह भारत पर धावा बोलता, लूटता, मार-काट करता और अपने साथ बहुत-सा धन और बहुत-से आदमी कैद करके ले जाता। कुल मिलाकर उसने भारत पर १७ हमले किये। इनमे से उसका केवल काश्मीर का एक धावा असफल रहा। बाकी सब धावे सफल हुए और सारे उत्तरी भारत पर उसका आतक छा गया। वह दक्षिण की तरफ पाटलि-पुत्र, मथुरा और सोमनाथ तक जा पहुचा। कहा जाता है कि थानेश्वर से वह दो लाख कैदी और बहुत-सा धन ले गया था। लेकिन उसे सबसे ज्यादा खजाना सोमनाथ मे मिला, क्योकि वहापर एक बहुत बडा मन्दिर था और सदियो की भेट-पूजा वहा जमा थी। कहते है, जब महमूद सोमनाथ के पास पहुचा तो इस आशा मे कि मूर्ति मे कोई चमत्कार जरूर होगा और उनका पूज्य देवता उनकी अवश्य मदद करेगा, हजारों आदमियो ने उस मन्दिर मे शरण ली। लेकिन भक्तो की कल्पनाओ के बाहर चमत्कार शायद ही कभी होते हो। महमूद ने मन्दिर को तोड डाला और उसे लूट लिया। पचास हजार आदमी उस चमत्कार की राह देखते-देखते नष्ट हो गये।

महमूद सन १०३० ई० मे मर गया। उस समय सारा पजाब और सिन्ध उसके अधीन था। वह इस्लाम का एक बडा नेता माना जाता है, जो भारत में इस्लाम फैलाने के लिए आया। लेकिन असल मे वह मजहबी आदमी नही था। वह मुसलमान जरूर था, लेकिन यह एक गौण बात थी। असली बात यह थी कि वह एक सैनिक, और प्रतिभाशाली सैनिक था। वह भारत को जीतने और लूटने आया था, जैसाकि बदकिस्मती से अक्सर सैनिक लोग किया करते है, और वह किसी भी धर्म का माननेवाला होता, तो यही करता। यह ध्यान देने की बात है कि महमूद ने सिन्ध के मुसलमान शासको को भी धमकी दी थी और जब उन्होने उसकी अधीनता मंजूर

करती है। इस पुस्तक का प्रकाशन इसी विचार से किया जा रहा है कि हमारे युवक इसे पढ़ें और इतिहास के महापुरुषो के जीवन तथा कार्यों से प्रेरणा लेकर देश के महान दायित्व के योग्य अपने को बनावें।

पुस्तक की सामग्री का चयन और सम्पादन हिन्दी के सुलेखक श्री विष्णु प्रभाकर ने किया है।

हमें विश्वास है कि हमारी शिक्षा-सस्थाए इस पुस्तक के पढ़ने का युवको को विशेष रूप से अवसर प्रदान करेंगी।

—मंत्री

: १२ :

# मुहम्मद तुगलक

मुहम्मद-बिन-तुगलक बडा ही अजीब व्यक्ति था। वह फारसी और अरबी का बहुत बडा आलिम और कामिल था। उसने दर्शन और न्याय-शास्त्र का अध्ययन किया था और यूनानी दर्शन का भी। उसे गणित, विज्ञान और चिकित्सा-शास्त्र का भी कुछ ज्ञान था। वह बहादुर आदमी था और अपने जमाने के लिहाज से विद्वत्ता का अनोखा नमूना और एक चमत्कार ही था। लेकिन फिर भी यह नमूना क्रूरता का दानव था और मालूम होता है कि बिल्कुल पागल था। वह अपने ही पिता को कत्ल करके तख्त पर बैठा था। ईरान और चीन जीतने के बारे में उसके विचार बडे ही अजीब थे और उनका नाकामयाब होना कुदरती बात थी। लेकिन उसका सबसे मशहूर कारनामा यह था कि उसने अपनी ही राजधानी दिल्ली को इसलिए उजाड डालने का निश्चय किया कि शहर के कुछ लोगो ने गुमनाम पर्चों मे उसकी नीति पर नक्ताचीनी करने की गुस्ताखी की थी। उसने हुक्म दिया कि राजधानी दिल्ली से बदलकर दक्षिण मे देवगिरि ले जाई जाय। इस जगह का नाम उसने दौलताबाद रखा। मकान के मालिको को कुछ मुआवजा दिया गया और इसके बाद हरएक आदमी को, बिना किसी लिहाज के यह हुक्म दिया गया कि तीन दिन के अन्दर शहर छोड दे।

बहुत लोग शहर छोडकर चल दिये। कुछ छिप भी गये। जब इनका पता चला तो इन्हें बेरहमी के साथ सजा दी गई, हालाकि इनमे से एक अन्धा था और दूसरा फालिज का मारा था। दिल्ली से दौलताबाद का रास्ता चालीस रोज का था। इस कूच मे लोगो की कैसी भयकर हालत हुई होगी और इनमें से कितने रास्ते मे खतम हो गये होगे!

और दिल्ली शहर का क्या हुआ? दो वर्ष बाद मुहम्मद-बिन-तुगलक ने इस शहर को फिर बसाना चाहा, लेकिन कामयाब न हो सका। एक आखो देखनेवाले के शब्दो में उसने इसे बिल्कुल वीरान बना दिया था। किसी बाग को एकदम बियाबान किया जा सकता है, लेकिन बियाबान को

कर ली और उसे खिराज दिया, तभी उसने उन्हे छोडा था। उसने बगदाद के खलीफा को भी मौत की धमकी दी थी और उससे समरकन्द मागा था। इसलिए हमे महमूद को एक सफल सैनिक के अलावा और कोई समझने की आम गलती मे न फसना चाहिए।

महमूद बहुत-से भारतीय शिल्पकारो और मेमारो को अपने साथ गजनी ले गया था और वहा उसने एक सुन्दर मस्जिद बनवाई थी, जिसका नाम उसने 'उरूसे जन्नत' यानी स्वर्ग-वधू रखा था। बगीचो का उसे बडा शौक था।

महमूद ने मथुरा की एक झलक हमे दिखाई है, जिससे पता लगता है कि मथुरा उस समय कितना बडा शहर था। महमूद ने गजनी के अपने सूबेदार को एक खत मे लिखा था—"यहा एक हजार ऐसी इमारते है, जो मोमीनो के ईमान की तरह मजबूत है। यह मुमकिन नही कि यह शहर अपनी इस मौजूदा हालत पर बिना करोडो दीनार खर्च किये पहुचा हो, और न इस तरह का दूसरा शहर दोसौ साल से कम में तैयार ही किया जा सकता है।"

महमूद का लिखा हुआ मथुरा का यह वर्णन हम फिरदौसी की किताब 'शाहनामा' मे पढते है। फिरदौसी फारसी का महाकवि था और महमूद का समकालीन था। एक कथा है कि 'शाहनामा' महमूद की आज्ञा से लिखा गया था और उसने फिरदौसी को फी शेर एक सोने की दीनार देने का वादा किया था। लेकिन मालूम होता है, फिरदौसी सक्षेप मे लिखने का कायल नही था। उसने बहुत ही विस्तार के साथ लिखा और जब वह महमूद के सामने अपने बनाये हजारो शेर ले गया, तो हालाकि उसकी रचना की बहुत तारीफ की गई, लेकिन महमूद को अपने अविवेकपूर्ण वादे पर अफसोस हुआ। उसने उसे वादे से बहुत कम इनाम देने की कोशिश की। इसपर फिरदौसी बडा नाराज हुआ और उसने कुछ भी लेने से इन्कार कर दिया।

फिर बाग बनाना आसान नही होता। अफरीका का मूर यात्री इब्न बतूता, जो सुल्तान के साथ था, दिल्ली वापस आया। उसने लिखा है—"यह शहर दुनिया के सबसे बडे शहरो में से एक है। जब हम इस शहर मे दाखिल हुए, हमने इसे उस हालत में पाया, जैसा बयान किया गया है। यह बिल्कुल खाली और उजडा हुआ था और आबादी बहुत कम थी।" एक दूसरे आदमी ने इस शहर के बारे मे लिखा है कि यह आठ या दस मील में फैला हुआ था, लेकिन "सब-कुछ नष्ट हो गया था। इसकी बरबादी इतनी मुकम्मिल थी कि शहर की इमारतो, महलो और नगरियो में कोई बिल्ली या कुत्ता तक बाकी नही रहा था।"

यह पागल पच्चीस वर्ष तक, यानी सन १३५१ ई० तक सुल्तान बनकर हुकूमत करता रहा। यह देखकर हैरत होती है कि जनता अपने शासको की कितनी धूर्त्तता, क्रूरता और अयोग्यता को बरदाश्त कर सकती है। लेकिन जनता की ताबेदारी के बावजूद मुहम्मद-बिन-तुगलक अपने साम्राज्य को नष्ट-भ्रष्ट कर डालने मे सफल रहा। उसकी पागलपन की योजनाओ ने और भारी टैक्सो ने देश को बरबाद कर दिया। अकाल पडे और अन्त में बलवे होने लगे। उसकी जिन्दगी में ही, सन १३४० ई० के बाद, साम्राज्य के बडे-बडे हिस्से आजाद हो गये। बगाल आजाद हो गया। दक्षिण में भी कई रियासतें पैदा हो गई। इनमे विजयनगर की रियासत मुख्य थी, जो सन १३३६ ई० में कायम हुई और दस वर्ष के अन्दर ही दक्षिण में एक बडी ताकत बन गई।

दिल्ली के पास अब भी तुगलकाबाद के खडहर देखे जा सकते हैं। इसे इसी मुहम्मद के पिता ने बसाया था।

## : १३ :

# चंगेज खां

सन १२११ और १२३६ ई० के बीच, भारत की सरहद पर एक बडा भयकर बादल उठा। यह बादल मगोलो का था, जिसका नेता चगेज खा था। चगेज खा अपने एक दुश्मन का पीछा करता हुआ ठेठ सिन्ध नदी तक

इन विजयो के बाद चगेज आराम कर सकता था। ऐसा मालूम होता है कि पश्चिम पर हमला करने की उसकी इच्छा नही थी। वह खारजम के शाह से मित्रता का सबध रखना चाहता था, लेकिन यह हो नही पाया। एक पुरानी कहावत है, जिसका मतलव है कि देवता जिसे नष्ट करना चाहते है, पहले उसे पागल कर देते है। खारजम का बादशाह अपनी ही वरबादी पर तुला हुआ था और इसे पूरा करने के लिए जो कुछ मुमकिन था, उसने किया। उसके एक सूबे के हाकिम ने मगोल सौदागरो को कत्ल कर दिया। चगेज फिर भी सुलह चाहता था और उसने यह सदेश लेकर राजदूत भेजे कि उस गवर्नर को सजा दी जाय। लेकिन बेवकूफ शाह इतना घमडी था और अपनेको इतना बडा समझता था कि उसने इन राजदूतो की बेइज्जती की और उनको मरवा डाला। चगेज के लिए इसे बरदाश्त करना नामुमकिन था, लेकिन उसने जल्दबाजी से काम नही लिया। उसने सावधानी से तैयारी की और तब पश्चिम की तरफ अपनी फौज के साथ कूच का डका बजा दिया।

इस कूच ने, जो सन १२१९ ई० मे शुरू हुआ, एशिया की और कुछ हद तक यूरोप की आखे इस नये आतक की तरफ खोल दी, जो बडे भारी बेलन की तरह शहरो और करोडो आदमियो को वेरहमी के साथ कुचलता हुआ चला आ रहा था। खारजम का साम्राज्य मिट गया। बुखारा का बडा शहर, जिसमे बहुत-से महल थे और दस लाख से ज्यादा आबादी थी, जलाकर राख कर दिया गया। राजधानी समरकन्द बरबाद कर दी गई और उसकी दस लाख की आबादी मे से सिर्फ पचास हजार लोग ज़िन्दा बचे। हिरात, बलख और दूसरे बहुत-से गुलजार शहर नष्ट कर दिये गए। करोडो आदमी मार डाले गये। जो कलाए और दस्तकारिया वर्षों से मध्य-एशिया मे फूल-फल रही थी, गायब हो गईं। ईरान और मध्य-एशिया में सभ्य जीवन का खात्मा-सा हो गया। जहा से चगेज गुजरा, वहा वीराना हो गया।

खारजम के बादशाह का लडका जलालुद्दीन इस तूफान के खिलाफ बहादुरी से लडा। वह पीछे हटते-हटते सिन्ध नदी तक चला आया और जब यहा भी इसपर जोर का दबाव पडा तो कहते है कि वह घोडे पर बैठा हुआ,

के जोश मे एशिया को नही रौंद डाला था। वह अधेड उम्र का एक होशियार और सावधान आदमी था और हर बडे काम को हाथ में लेने से पहले उसपर विचार और उसकी तैयारी कर लेता था।

मगोल लोग खानाबदोश थे। शहरो और शहरो के रग-ढग से भी उन्हें नफरत थी। बहुत लोग समझते है कि चूकि वे खानाबदोश थे, इसलिए जगली रहे होगे, लेकिन यह खयाल गलत है। शहर की बहुत-सी कलाओ का उन्हे अलबत्ता ज्ञान नही था, लेकिन उन्होने जिन्दगी का अपना एक अलग तरीका ढाल लिया था और उनका सगठन बहुत गुथा हुआ था। लडाई के मैदान में अगर उन्होने महान विजयें प्राप्त की तो सख्या अधिक होने के कारण नही, बल्कि अनुशासन और सगठन के कारण। और इसका सबसे बडा कारण तो यह था कि उन्हे चगेज जैसा जगमगाता सेनानी मिला था। इसमे कोई शक नही कि इतिहास में चगेज जैसा महान और प्रतिभा-वाला सैनिक-नेता दूसरा कोई नही हुआ है। सिकन्दर और सीजर इसके सामने नाचीज नजर आते है। चगेज न सिर्फ खुद बहुत बडा सिपहसालार था, बल्कि उसने अपने बहुत-से फौजी अफसरो को तालीम देकर होशियार नायक बना दिया था। अपने वतन से हजारो मील दूर होते हुए, दुश्मनो और विरोधी जनता से घिरे रहते हुए भी, वे अपने से ज्यादा तादाद की फौजो से लडकर उनपर विजय प्राप्त करते थे।

चगेज ने बडी सावधानी के साथ अपनी विजय-यात्रा की तैयारिया की। उसने अपनी फौज को लडाई की तालीम दी। सबसे ज्यादा इसने अपने घोडो को सिखाया था और इस बात का खास इन्तजाम किया था कि एक घोडा मरने के बाद दूसरा घोडा तुरन्त सिपाहियो के पास पहुच सके, क्योकि खानाबदोशो के लिए घोडो से ज्यादा महत्व की चीज कोई नही है। इनसब तैयारियो के बाद उसने पूर्व की तरफ कूच किया और उत्तर चीन और मचूरिया के किन साम्राज्य को करीब-करीब खत्म कर दिया और पेकिंग पर भी कब्जा कर लिया। उसने कोरिया जीत लिया। मालूम होता है कि दक्षिणी सुगो को उसने दोस्त बना लिया था। इन सुगो ने किन लोगो के खिलाफ उसकी मदद भी की थी। बेचारे यह नही समझते थे कि इनके बाद उनकी बारी भी आनेवाली है। चगेज ने बाद में सुगो को भी जीत लिया था।

था। चगेज खारजम से खासतौर पर नाराज़ था, क्योंकि शाह ने उसके राजदूत को कत्ल करवा दिया था। उसके लिए तो यह खूनी झगडा था। और जगहो पर भी चगेज ने खूब सत्यानाश किया था, लेकिन शायद उतना नही, जितना मध्य-एशिया मे।

शहरो को यो बरबाद करने के पीछे चगेज की एक और भी भावना थी। उसकी खानाबदोशो की तबीयत थी और वह कसबों और शहरों से नफरत करता था। वह खुले मैदानो मे रहना पसन्द करता था। एक दफा तो चगेज को यह खयाल हुआ कि चीन के तमाम शहर बरबाद कर दिये जाय तो अच्छा होगा! लेकिन खुश-किस्मती कहिये कि उसने ऐसा किया नही। उसका विचार था कि सभ्यता और खानाबदोशी की जिन्दगी को मिला दिया जाय, लेकिन न तो यह सम्भव था और न है।

चगेज खा के नाम से शायद यह खयाल हो कि वह मुसलमान था, लेकिन वह मसलमान नही था। यह एक मगोल नाम है। मजहब के मामले मे चगेज वडा उदार था। उसका अपना मजहब अगर कुछ था तो शमावाद था, जिसमे 'अविनाशी नीले आकाश' की पूजा थी। वह चीन के ताओ धर्म के पडितो से अक्सर खूब ज्ञान-चर्चा किया करता था। लेकिन वह खुद शमा-मत पर ही कायम रहा और जब कठिनाई मे होता, तब आकाश का ही आश्रय लिया करता था।

चगेज को मंगोलो की सभा ने 'खान महान' चुना था। यह सभा असल में सामन्तो की सभा थी, जनता की नही, और यो चंगेज इस फिरके का सामन्ती सरदार था।

वह पढ़ा-लिखा न था और उसके तमाम अनुयायी भी उसीकी तरह थे। शायद वह बहुत दिनो तक यह भी नही जानता था कि लिखने-जैसी भी कोई चीज होती है। सदेश जबानी भेजे जाते थे और आमतौर पर छन्द मे रूपको या कहावतो के रूप मे होते थे। ताज्जुब तो यह है कि जबानी सदेशो से किस तरह इतने बडे साम्राज्य का कारबार चलाया जाता था! जब चगेज को मालूम हुआ कि लिखने-जैसी कोई चीज होती है तो उसने फौरन ही महसूस कर लिया कि यह बडी फायदेमन्द चीज़ है और उसने अपने पुत्रो और मुख्य सरदारो को इसे सीखने का हुक्म दिया। उसने यह भी हुक्म दिया

३० फुट नीचे सिन्ध नदी मे कूद पडा और तैरकर इस पार निकल आया। उसे दिल्ली-दरबार मे आश्रय मिला। चगेज ने वहातक उसका पीछा करना फिजूल समझा।

सेलजूक तुर्को की और बगदाद की खुशकिस्मती थी कि चगेज ने इनको बिना छेडे छोड दिया और वह उत्तर में रूस की तरह बढ गया। उसने कीफ के ग्रैंड ड्यूक को हराकर कैद कर लिया। फिर वह हिसियो या तंगतो के बलवे को दबाने के लिए पूर्व की तरफ लौट गया।

चगेज सन १२२७ ई० मे ७२ वर्ष की उम्र में मर गया। उसका साम्राज्य पश्चिम मे काले समुद्र से पूर्व में प्रशान्त महासागर तक फैला हुआ था। उसमें अब भी काफी तेजी थी और वह दिन-ब-दिन बढ ही रहा था। इसकी राजधानी अभीतक मगोलिया में कराकुरम नाम का छोटा-सा कस्बा था। खानाबदोश होते हुए भी चगेज बडा ही योग्य सगठन करनेवाला था और उसने बद्धिमानी के साथ अपनी मदद के लिए योग्य मत्री मर्कारिर कर रखे थे। उसका इतनी तेजी के साथ जीता हुआ साम्राज्य उसके मरने पर टूटा नही।

अरब और ईरानी इतिहास-लेखको की नजर मे चगेज एक दानव है। उसे इन्होंने 'खुदा का कहर' कहा है। उसे बडा जालिम आदमी बताया गया है। इसमें शक नही कि वह बडा ज़ालिम था, लेकिन उसके जमाने के दूसरे बहुत-से शासको में और उसमे कोई ज्यादा फर्क नही था। भारत में अफगान बादशाह, कुछ छोटे पैमाने पर, इसी तरह के थे। जब गजनी पर अफगानो ने सन ११५० ई० मे कब्जा किया तो पुराने खून का बदला लेने के लिए इन लोगो ने उस शहर को लूटा और जला दिया। सात दिन तक "लूट-मार, बरबादी और मार-काट जारी रही। जो मर्द मिला, उसे कत्ल कर दिया गया। तमाम स्त्रियो और बच्चो को कैद कर लिया गया। महमूदी बादशाहो (यानी सुल्तान महमूद के वशजो) के महल और इमारते, जिनका दुनिया मे कोई सानी नही था, नष्ट कर दिये गए।" मुसलमानो का अपने बिरादर मुसलमानो के साथ यह सलूक था। इसके, और यहा भारत में जो कुछ अफगान बादशाहो ने किया उसके, और मध्य-एशिया और ईरान मे चगेज की विनाशपूर्ण कार्रवाई के, दर्जो में कोई फर्क नही

## विषय-सूची

था कि मगोलो का पुराना रिवाजी कानून और उसकी अपनी उक्तिया भी लिख डाली जाय। मुराद यह थी कि यह रिवाजी कानून सदा-सर्वदा के लिए 'अपरिवर्तनशील कानून' है, और कोई इसे भग नही कर सकता। बादशाह के लिए भी इसका पालन करना जरूरी था। लेकिन यह 'अपरिवर्तनशील कानून' अब अप्राप्य है और आजकल के मगोलो को न तो इसकी कोई याद है और न इसकी कोई परम्परा ही बाकी रही है।

चगेज खा की मृत्य के बाद उसका लडका ओगताई 'खान महान' हुआ। चगेज और उस जमाने के मगोलो के मकाबले मे वह दयावान और शान्तिप्रिय स्वभाव का था। वह कहा करता था कि "हमारे आगन चगेज ने बडी मेहनत से हमारे शाही खान्दान को बनाया है। अब वक्त आ गया है कि हम अपने लोगो को शान्ति दे, खुशहाल बनाये और उनकी मुसीबतो को कम करे।"

: १४ :

# महान यात्री मार्को पोलो

मगोल लोग अपने दरबार मे विदेशो के यात्रियो को आने के लिए प्रोत्साहन देते थे। इनमे ज्ञान की प्यास थी और ये उनसे सीखना चाहते थे। इनके दिमाग खुले थे, जिनमे सीखने की चाह थी, इसलिए ये दूसरो से सीख सकते थे।

सन १२३९ मे चीन का गवर्नर कुबलाई खा 'खान महान' बना। कुबलाई बहुत दिनो तक चीन मे रह चुका था और उसे यह देश पसद था। इसलिए उसने अपनी राजधानी कराकुरम से हटाकर पेकिंग में कायम की। कुबलाई खा खासतौर से विदेशी यात्रियो को प्रोत्साहन देता था। उसके पास वेनिस से दो व्यापारी आये थे—ये दोनो भाई थे, जिनमे एक का नाम था निकोलो पोलो, और दूसरे का मैफियो पोलो। ये लोग व्यापार की तलाश मे ठेठ बुखारा तक पहुच गये थे और वहा कुबलाई खा के कुछ एलची इन्हे मिले। उन लोगो ने इन दोनो को कारवा मे शामिल

होने को राजी कर लिया और इस तरह ये 'खान महान' के दरबार मे पेकिंग पहुचे।

कुबलाई खा ने निकोलो और मैफियो का अच्छा स्वागत किया। उन्होंने खा को यूरोप, ईसाई-धर्म और पोप के बारे म बताया। उसने इनकी बातो म बहुत दिलचस्पी जाहिर की और ऐसा मालूम होता था कि वह ईसाई-धर्म की तरफ झुक रहा है। उसने सन १२६९ ई० मे इन दोनो को यूरोप वापस भेजा और यह सदेश पोप से कहलाया कि सौ विद्वान, "सातो कलाओं को जाननेवाले चतुर आदमी", जो ईसाई-धर्म को सिद्ध करने मे समर्थ हो, उसके यहा भेजे जाय। लेकिन ये दोनो भाई जब यूरोप वापस पहुचे तो उस समय पोप और यूरोप दोनो की हालत बुरी थी। इस किस्म के सौ आदमी थे ही नही। दो वर्ष ठहरकर ये लोग दो ईसाई साधुओ को साथ लेकर वापस गये। लेकिन इससे भी ज्यादा महत्व की बात यह है कि ये अपने साथ निकोलो के नौजवान लडके मार्को को भी ले गये।

तीनो पोलो अपनी विकट यात्रा पर रवाना हुए और खुश्की के रास्ते से इन्होंने एशिया की पूरी लम्बाई तय की। कितना जबरदस्त सफर था यह! अगर आज भी कोई उसी रास्ते पर जाय तो करीब-करीब साल-भर लग जायगा। इन्होंने कुछ हद तक ह्यूएनत्साग का पुराना रास्ता पकडा था। वे फिलस्तीन होकर आरमीनिया आय और वहा से इराक और फिर ईरान की खाडी पहुचे। यहा उन्हे भारत के व्यापारी मिले। ईरान पार करके वे बलख पहुचे, और वहा से पहाडों को लाघते हुए काशगर से खुतन, खुतन से लाब-नोर झील, जो चलती-फिरती झील कहलाती है। वहा से फिर रेगिस्तान पार करते हुए और चीन के खेतों मे होते हुए पेकिंग पहुचे। उनके पास एक शाही पासपोर्ट था, यह खुद खान महान की दी हुई सोने की तख्ती थी।

इन लम्बी-लम्बी यात्राओ से एक फायदा था। लोगो को नई भाषा या भाषाए सीखने का समय मिल जाता था। तीनों को वेनिस से पेकिंग तक पहुचने-पहुचते साढे तीन वर्ष लग गये और इस लम्बे समय में मार्को को मगोल भाषा पर पूरा अधिकार हो गया और शायद चीनी भाषा पर भी। मार्को 'खान महान' का बहुत चहेता हो गया और उसने करीब

सत्रह साल तक उसकी नौकरी की। वह गवर्नर बना दिया गया और सरकारी कामो पर चीन के विभिन्न प्रान्तो मे जाया करता था। हालाकि मार्को और उसके पिता को घर की याद सताती थी और वे वेनिस वापस जाना चाहते थे, लेकिन खान की इजाजत हासिल करना आसान नही था। आखिरकार उनको वापस जाने का मौका मिल गया। ईरान मे इलखान-साम्राज्य के मगोल शासक की बीवी मर गई। यह कुबलाई का चचेरा भाई था। वह फिर शादी करना चाहता था, लेकिन उसकी पहली स्त्री ने उससे यह वादा करा लिया था कि वह अपने फिरके के बाहर की किसी औरत से शादी न करेगा। इसलिए आरगोन ने (कुबलाई के चचेरे भाई का यही नाम था) एलचियो द्वारा कुबलाई खा के पास पेकिंग सदेश भेजा और उससे प्रार्थना की कि अपने फिरके की एक योग्य स्त्री उसके लिए भेज दे।

कुबलाई खा ने एक नौजवान मगोल राजकुमारी को पसद किया और तीनो को उसके लश्कर के साथ कर दिया, क्योकि ये तजुर्बेकार राहगीर थे। ये लोग समुद्र के रास्ते दक्षिण चीन से सुमात्रा गये और वहा कुछ दिन ठहरे। सुमात्रा से ये लोग दक्षिण भारत आये। राजकुमारी, मार्को और उनका लश्कर भारत मे काफी दिन ठहरे। मालूम होता है कि इन्हे कोई जल्दी नही थी, क्योकि इन्हे ईरान पहुचते-पहुचते दो वर्ष लग गये। लेकिन इस दरमियान शादी का उम्मीदवार दूल्हा मर चुका था। पर शायद उसकी मौत कोई वहुत बडा दुर्भाग्य साबित नही हुई। नौजवान राजकुमारी की शादी आरगोन के पुत्र से हो गई, जो अपने बाप की वनिस्वत उसकी उम्र के अधिक जोड का था।

तीनो ने राजकुमारी को तो वही छोड दिया और खुद कुस्तुतुनिया होते हुए आगे अपने वतन चले गये। सन १२९५ ई० मे, यानी घर छोडने के २४ वर्ष वाद, वे वेनिस पहुचे। किसीने उनको नही पहचाना। कहते है, अपने पुराने दोस्तो और दूसरे लोगो पर सिक्का जमाने के लिए उन्होने एक दावत दी और इस दावत के वीच मे ही उन्होने अपने फटे-पुराने और रूईभरे कपडे उधेड डाले। फौरन ही कीमती जवाहिरात—हीरे, माणिक, पन्ने वगैरह—के ढेर-के-ढेर उनके कपडो मे से निकल पडे और मेहमान हैरत मे आ गये। फिर भी उनकी कहानियो पर, चीन और भारत मे

उनकी आप-बीती पर, बहुत कम लोगो ने यकीन किया। इन लोगो ने समझा कि मार्को और उसके पिता और चचा बहुत बढा-चढाकर बाते कर रहे है। उन्हे चीन और एशिया के दूसरे देशो के विस्तार और उनकी दौलत की कल्पना ही नही हो सकती थी।

तीन वर्ष बाद, सन १२९५ ई० मे, वेनिस की जिनोआ शहर से लडाई ठन गई। ये दोनो समुद्री ताकते थी और एक-दूसरी की प्रतिद्वन्द्वी थी। दोनो में जबरदस्त समुद्री लडाई हुई। वेनिस के लोग हार गये और जिनोआ-वालो ने उनके हजारो आदमियो को कैद कर लिया। इन कैदियो मे हमारा दोस्त मार्को पोलो भी था। जिनोआ के कैदखाने मे बैठे-बैठे मार्को पोलो ने अपनी यात्राओ का वर्णन लिखा, या यो कहिये, लिखाया। इस तरह 'मार्को पोलो की यात्राए' नामक पुस्तक बनी। अच्छा काम करने के लिए जेलखाना कितनी उपयोगी जगह है!

इस सफरनामे मे मार्को ने खासतौर से चीन का हाल लिखा है और उन अनेक यात्राओ का भी जिक्र किया है, जो उसने चीन मे की थी। उसने स्याम, जावा, सुमात्रा, लका और दक्षिण भारत का भी कुछ हाल लिखा है। उसने बताया है कि चीन मे बडे-बडे बन्दरगाह थे, जहां पूर्व के तमाम देशो के जहाजो की भीड रहती थी और कोई-कोई जहाज तो इतने बड़े होते थे कि उनमे ३०० या ४०० मल्लाह चला करते थे। उसने लिखा है कि "चीन एक हरा-भरा और खुशहाल देश था, जिसमे अनेक शहर और कस्बे थे; यहा रेशमी और जरी के कपड़े और तरह-तरह के नफीस ताफ्ता बनते थे"; और "खुशनुमा अगूर की बेलो की क्यारिया और खेत और बाग थे"; और तमाम रास्तो पर "मुसाफिरो के लिए बढिया सराये थी"। उसने यह भी लिखा है कि शाही फरमानो को पहुचाने के लिए हरकारों का खास इन्तजाम था। ये फरमान थोडी-थोडी दूर पर बदले जानेवाले घोड़ों के जरिये चौबीस घटे मे ४०० मील का फासला तय कर लेते थे, और यह दर-असल बहुत अच्छी रफ्तार है। उसने बतलाया है कि चीन के लोग जलावन लकड़ी के बजाय काला पत्थर काम मे लेते थे जो जमीन मे खोदकर निकाला जाता था। इससे साफ जाहिर है कि चीनी लोग कोयले की खाने खोदते थे और जलावन के लिए कोयला इस्तेमाल करते थे। कुबलाई खा ने कागज

का सिक्का भी जारी किया था, यानी कागज के नोट चलाये थे, जिनके बदले मे सोना देने का वायदा होता था, जैसा आजकल किया जाता है। यह बडी दिलचस्प बात है, क्योकि इससे पता चलता है कि उसने साहूकारी का एक आधुनिक तरीका काम मे लिया था। मार्को ने बयान किया है कि प्रेस्टर जान नाम के शासक की मातहती मे ईसाइयो की एक बस्ती चीन मे रहती थी। इस बात ने यूरोप के लोगो मे बडा कौतूहल और अचम्भा पैदा कर दिया था। शायद ये लोग मगोलिया के कुछ पुराने नैस्टोरियन रहे हो।

मार्को ने जापान, बर्मा और भारत का भी हाल लिखा है—कुछ आखो देखा और कुछ कानो सुना। मार्को की कहानी यात्रा की एक अद्भुत कहानी थी और अब भी है। इसने छोटे-छोटे तग देशो मे बसनेवाले और तुच्छ ईर्ष्या-द्वेष मे फसे हुए यूरोपनिवासियो की आखे खोल दी और उन्हे इस लम्बी-चौडी दुनिया के विस्तार, धन तथा चमत्कारो का भान करा दिया। इससे उनकी कल्पना को उत्तेजना मिली, उनकी साहसपूर्ण कार्य करने की भावना जागृत हुई और लालच से उनके मुह मे पानी आ गया। इसने उन्हे और भी अधिक समुद्र-यात्राए करने की प्रेरणा दी।

मार्को के चले आने के थोडे दिन बाद ही 'खान महान' कुबलाई की मृत्यु हो गई। युआन राजवश, जिसका यह सस्थापक था, इसके मरने के बाद बहुत दिन तक नही टिका। मगोलो की ताकत तेज़ी के साथ घटने लगी और विदेशियो के खिलाफ चीन मे एक राष्ट्रीय लहर पैदा हो गई। साठ वर्ष के अन्दर ही मगोल दक्षिण-चीन से निकाल दिये गये और नानकिंग मे एक चीनी सम्राट बन बैठा। इसके बारह वर्ष बाद, सन १३६८ ई० मे, युआन राजवश बिल्कुल खतम हो गया और मगोल लोग चीन की बडी दीवार के उस पार खदेड दिय गए।

: १५ :

## फिरोजशाह तुगलक

खब्ती सुल्तान मुहम्मद तुगलक दिल्ली को छिन्न-भिन्न करने मे किस तरह सफल हुआ, इसका जिक्र पीछे किया जा चुका है। दक्षिण के

बडे मूब अलग हो गये और वहा नये राज्य बन गये। इन राज्यो मे विजयनगर की हिन्दू रियासत और गुलबर्ग की मुसलमान रियासत मुख्य थी। पूर्व मे गौड़ का सूबा, जिसमे बंगाल और बिहार शामिल था, एक मुसलमान शासक की मातहती मे आजाद हो गया।

मुहम्मद का उत्तराधिकारी उसका भतीजा फिरोजशाह हुआ। वह अपने चचा से ज्यादा समझदार और रहमदिल था। लेकिन असहिष्णुता का अन्त नही हुआ था। फिरोज एक कुशल शासक था और उसने अपने शासन मे बहुत-से सुधार किये। वह दक्षिण या पूर्व के खोये हुए सूबो को फिर से न पा सका, लेकिन साम्राज्य के बिखरने का जो सिलसिला शुरू हो गया था, उसे उसने जरूर रोक दिया। उसे नये-नये शहर, महल, मसजिदे और बगीचे बनाने का खास शौक था। दिल्ली के नजदीक फिरोजाबाद और इलाहाबाद से कुछ दूर जौनपुर शहर उसीके बसाये हुए है। उसने जमना की एक बड़ी नहर भी बनवाई थी और बहुत-सी पुरानी इमारतो की, जो टूट-फूट रही थी, मरम्मत करवाई थी। उसे अपने इस काम पर बहुत गर्व था और वह अपनी बनवाई हुई नई इमारतो की और मरम्मत कराई गई पुरानी इमारतो की एक लम्बी फेहरिस्त छोड़ गया है।

फिरोजशाह की मा राजपूत स्त्री थी। उसका नाम बीबी नैला था और वह एक बडे सरदार की लडकी थी। कहते है, उसके पिता ने पहले फिरोज के बाप के साथ उसका विवाह करने से इन्कार कर दिया था। इस पर लडाई शरू हुई। नैला के देश पर हमला हुआ और वह बरबाद कर दिया गया। जब बीबी नैला को मालूम हुआ कि उसके कारण उसकी प्रजा पर मुसीबत आ रही है तो वह बहुत परेशान हुई और उसने निश्चय किया कि अपनेको फिरोजशाह के पिता के हवाले करके इसे खत्म कर दे और अपनी प्रजा को बचा ले। इस तरह फिरोजशाह मे राजपूती खून था। मसलमान शासको और राजपूत स्त्रियो के बीच ऐसे अन्तर्जातीय विवाह अक्सर होने लगे थे। इसकी वजह से एकजातीयता की भावना के विकास मे जरूर मदद मिली होगी।

फिरोजशाह, ३७ वर्ष के लम्बे समय तक राज करने के बाद, सन १३८८ ई० मे मर गया। फौरन ही दिल्ली साम्राज्य का ढाचा, जिसे उसने

जोड रक्खा था, टुकडे-टुकडे हो गया। कोई केन्द्रीय सरकार न रह गई और हर जगह छोटे-छोटे शासको की तूती बोलने लगी। अव्यवस्था और कमजोरी के इसी समय मे फिरोजशाह की मृत्यु के ठीक दस वर्ष बाद तैमूर उत्तर से आ टूटा। दिल्ली को तो उसने करीब-करीब खतम ही कर डाला।

: १६ :

# तैमूर लंग

तैमूर दूसरा चगेज खा बनना चाहता था। वह चगेज का वशज होने का दावा करता था, लेकिन असल मे वह तुर्क था। वह लगडा था, इसीलिए तैमूर लंग कहलाता था। वह अपने बाप के बाद सन १३६९ ई० मे समरकद का शासक बना। इसके बाद ही उसने अपनी विजय और क्रूरता की यात्रा शुरू कर दी। वह बहुत बडा सिपहसालार था, लेकिन पूरा वहशी भी था। मध्य-एशिया के मगोल लोग इस बीच मे मुसलमान हो चुके थे और तैमूर खुद भी मुसलमान था। लेकिन मुसलमानो से पाला पडने पर वह उनके साथ ज़रा भी मुलायमियत नही बरतता था। जहा-जहा वह पहुचा, उसने तबाही और बला और पूरी मुसीबत फैला दी। नर-मुडो के बडे-बडे ढेर लगवाने मे उसे खास मजा आता था। पूर्व मे दिल्ली से लगाकर पश्चिम मे एशिया-कोचक तक उसने लाखो आदमी कत्ल करा डाले और उनके कटे सिरो को स्तूपो की शक्ल में जमवाया।

चगेज खा और उसके मगोल भी बेरहम और बरबादी करनेवाले थे, पर वे अपने जमाने के दूसरे लोगो की तरह ही थे। लेकिन तैमूर उनसे बहुत बुरा था। अनियन्त्रित और पैशाचिक क्रूरता मे उसका मुकाबला करने-वाला कोई दूसरा नही। कहते है, एक जगह उसने दो हजार जिदा आदमियो की एक मीनार बनवाई और उन्हे ईंट और गारे से चुनवा दिया।

भारत की दौलत ने इस वहशी को आकर्षित किया। अपने सिपहसालारो और अमीरो को भारत पर हमला करने के लिए राजी करने मे इसे कुछ कठिनाई हुई। समरकद मे एक बडी सभा हुई, जिसमे अमीरो ने भारत जाने पर इसलिए ऐतराज किया कि वहा गरमी बहुत पडती है।

अंत मे तैमूर ने वादा किया कि वह भारत मे ठहरेगा नही, लूट-मार करके वापस चला आयेगा। उसने अपना वादा पूरा किया।

उत्तर भारत मे उस वक्त मुसलमानी राज्य था। दिल्ली मे एक सुल्तान राज करता था। लेकिन यह मुसलमानी रियासत कमजोर थी और सरहद पर मगोलो से बराबर लडाई करते-करते इसकी कमर टूट गई थी। इसलिए जब तैमूर मगोलो की फौज लेकर आया तो उसका कोई कड़ा मुकाबला नही हुआ और वह कत्लेआम करता और खोपडियो के स्तूप बनाता हुआ मजे के साथ आगे बढता गया। हिन्दू और मुसलमान दोनो कत्ल किये गए। मालूम होता है, उनमे कोई फर्क नही किया गया। जब ज्यादा कैदियो को सम्हालना मुश्किल हो गया तो उसने उनके कत्ल का हुक्म दे दिया और एक लाख कैदी मार डाले गये। कहते है, एक जगह हिन्दू और मुसलमान दोनो ने मिलकर जौहर की राजपूती रस्म अदा की थी, यानी युद्ध मे लड़ते-लडते मर जाने के लिए बाहर निकल पडे थे। रास्ते भर वह यही करता गया। तैमूर की फौज के पीछे-पीछे अकाल और महामारी चलती थी। दिल्ली मे वह पन्द्रह दिन रहा और उसने इस बडे शहर को कसाईखाना बना दिया। बाद मे काश्मीर को लूटता हुआ वह समरकन्द वापस लौट गया।

हालाकि तैमूर वहशी था, पर वह समरकन्द मे और मध्य-एशिया मे दूसरी जगहो पर खूबसूरत इमारते बनवाना चाहता था। इसलिए बहुत दिन पहले के सुल्तान महमूद की तरह उसने भारत के कारीगरो, राज-गीरो और होशियार मिस्त्रियों को इकट्ठा किया और उन्हे अपने साथ ले गया। इनमे से जो सबसे अच्छे राजगीर और कारीगर थे, उन्हे उसने अपनी शाही नौकरी मे रख लिया। बाकी को उसने पश्चिमी एशिया के खास-खास शहरो मे भेज दिया। इस तरह इमारते बनाने की कला की एक नई शैली का विकास हुआ।

तैमूर के जाने के बाद दिल्ली मुर्दो का शहर रह गया था। चारो तरफ अकाल और महामारी का राज था। दो महीने न कोई राजा था, न सगठन, न व्यवस्था। बहुत कम लोग वहा रह गये थे, यहातक कि जिस आदमी को तैमूर ने दिल्ली का वाइसराय मुकर्रिर किया था, वह भी मुलतान चला गया।

इसके वाद तैमूर ईरान और इराक मे तवाही और वरवादी फैलाता हुआ पश्चिम की तरफ बढा। अगोरा मे सन १४०२ ई० मे उस्मानी तुर्कों की एक वड़ी फौज के साथ इसका मुकावला हुआ। अपने सैनिक कौशल से इसने इन तुर्कों को हरा दिया। लेकिन समुद्र के आगे उसका वस नही चला और वह वासफोरस को पार न कर सका। इसलिए यूरोप उससे बच गया।

तीन वर्ष वाद, सन १४०५ ई० मे, जव वह चीन की तरफ बढ़ रहा था, तैमूर मर गया। उसीके साथ उसका लम्वा-चौड़ा साम्राज्य भी, जो करीव-करीव सारे पश्चिमी एशिया मे फैला हुआ था, गर्क हो गया। उस्मानी तुर्क, मिस्र और सुनहरे कवीले इसे खिराज देते थे। लेकिन उसकी योग्यता सिर्फ उसकी अद्‌भुत सिपहसालारी तक ही सीमित थी। साइवेरिया के वर्फिस्तान मे उसकी कुछ रण-यात्राए असाधारण रही है। पर असल मे वह एक जगली खानावदोश था। उसने न तो कोई सगठन वनाया और न चगेज की तरह साम्राज्य चलाने के लिए अपने पीछे कोई काविल आदमी ही छोडे। इसलिए तैमूर का साम्राज्य उसीके साथ खत्म हो गया और सिर्फ वरवादी और कत्ले-आम की वह यादगार छोड गया। मध्य-एशिया मे होकर जितने भी भाग्य-परीक्षक और विजेता गुज़रे हैं, उनमे से चार के नाम लोगो को अभीतक याद हैं—सिकन्दर, सुल्तान महमूद, चगेज खा और तैमूर।

: १७ :

# हिन्दू-सुधारक

इतिहास वताता है कि शुरू के जमाने से ही हिन्दू-धर्म मे सुधारक पैदा होते रहे हैं, जिन्होने इसकी वुराइयो को दूर करने की कोशिश की है। वुद्ध इनमे सवसे वडे थे। मैंने शकराचार्य का जिक्र किया ही है, जो आठवी सदी मे हुए थे। तीनसौ वर्ष वाद, ग्यारहवी सदी मे, एक और महान सुधारक पैदा हुए, जो दक्षिण मे चोल साम्राज्य के रहनेवाले थे और शकर-मत के प्रतिद्वन्द्वी मत के नेता थे। इनका नाम रामानुज था। शंकर शैव थे और तीक्ष्ण वुद्धिवाले थे, रामानुज वैष्णव थे और श्रद्धावान थे। रामानुज का प्रभाव सारे भारत मे फैल गया।

इस्लाम के भारत मे जमने के बाद हिन्दुओ मे और मुसलमानो मे भी एक नये नमूने के सुधारक पैदा होने लगे। वे इन दोनो मजहबो के समान पहलुओ पर जोर देकर दोनो को नजदीक लाने की कोशिश करते थे और दोनो की कुरीतियो और आडम्बरो की निन्दा करते थे। इस तरह दोनो का सयोजन या सम्मिश्रण करने की कोशिश की गई। यह एक मुश्किल काम था, क्योकि दोनो तरफ बहुत वैमनस्य और तास्सुब था। लेकिन हम देखेगे कि हर सदी मे इस तरह की कोशिशे होती रही, यहातक कि कुछ मुसलमान शासको ने, और खासकर अकबर ने भी, इस तरह के सयोजन की कोशिश की।

रामानन्द, जो चौदहवी सदी मे दक्षिण मे हुए, इस सयोजन का प्रचार करनेवाले सबसे पहले मशहूर धर्म-गुरु थे। वह जात-पात के खिलाफ प्रचार करते थे और उसका बिल्कुल विचार नही करते थे। कबीर नाम के एक मुसलमान जुलाहे उनके शिष्य थे, जो बाद को उनसे भी ज्यादा मशहूर हुए। कबीर बहुत लोकप्रिय हो गये। हिन्दी मे उनके भजन उत्तर भारत के दूर-दूर के गावो तक मे खूब प्रचलित है। वह न हिन्दू थे, न मुसलमान। वह हिन्दू-मुसलमान दोनो थे या दोनो के बीच के थे और दोनो मजहबो के और सब जाति के लोग उनके अनुयायी थे। कहते है, जब वह मरे, उनका शव एक चादर से ढक दिया गया। उनके हिन्दू चेले उसे जलाना चाहते थे और मुसलमान शागिर्द उसे दफन करना चाहते थे। पर इस दोनो मे वाद-विवाद और झगडा हुआ। लेकिन जब चादर हटाई गई, तो लोगो ने देखा कि वह शरीर, जिसके लिए वे झगड़ रहे थे, गायब हो गया था और उसकी जगह कुछ ताजे फूल पडे हुए थे। मुमकिन है, यह कहानी बिल्कुल काल्पनिक हो, लेकिन है बहुत सुन्दर।

कबीर के कुछ दिनो बाद उत्तर मे एक दूसरे बडे सुधारक और धार्मिक नेता पैदा हुए। इनका नाम गुरु नानक था और इन्होने सिख-पन्थ चलाया। इनके बाद एक-एक करके सिखो के दस गुरु हुए, जिनमे आखिरी गुरु गोविन्दसिह थे।

भारत के धार्मिक और सास्कृतिक इतिहास मे एक और नाम प्रसिद्ध है, जिसका मै यहा जिक्र करना चाहता हू। यह नाम चैतन्य का है, जो सोलहवी

सदी मे बगाल के एक प्रसिद्ध विद्वान हुए और जिन्होने यकायक यह निश्चय कर डाला कि उनका अध्ययन किमी काम का नही है। इसलिए उसे छोडकर उन्होने भक्ति का मार्ग अपनाया। वह एक महान भक्त बन गये और अपने शिष्यो को साथ लेकर सारे बगाल मे भजन गाते फिरने लगे। उन्होने एक वैष्णव सम्प्रदाय भी स्थापित किया। बगाल मे आज भी उनका बहुत बडा प्रभाव नजर आता है।

: १८ :

# विलियम, प्रिन्स ऑव ऑरेंज

निदरलैण्ड्स मे हालैण्ड और बेल्जियम दोनो शामिल है। इनका नाम ही यह बतलाता है कि ये नीची ज़मीन मे है। हालैण्ड का अर्थ है 'धसी हुई ज़मीन'। इनके बहुत-से हिस्से समुद्र की सतह से दरअसल नीचे है और उत्तरी समुद्र के पानी को रोकने के लिए विशाल बाध और दीवारे बनाई गई है। ऐसे देश के निवासी, जहा निरन्तर समुद्र से लडना पडता है, जन्म से ही मजबूत और सागर-प्रिय होते है और जो लोग समुद्र-यात्रा करते रहते है, वे अक्सर तिजारती बन जाते है। इसलिए निदरलैण्ड्स के निवासी तिजारती हो गये। वे ऊनी कपडा और दूसरी चीजे तैयार करते थे और पूर्वी देशो के गरम मसाले भी ले जाने लगे। नतीजा यह हुआ कि ब्रुग्स, घेण्ट और खासकर एण्टवर्प-जैसे मालदार और तिजारती शहर वहा खडे हो गये। जैसे-जैसे पूर्वी देशो से व्यापार बढता गया, वैसे-वैसे इन शहरो की दौलत भी बढती गई और सोलहवी सदी मे एण्टवर्प यूरोप का व्यापारिक केन्द्र बन गया। इन्ही व्यापारी वर्गो के हाथ मे इन शहरो के शासन की बागडोर थी।

व्यापारियो की यह ठीक ऐमी जाति थी, जो 'रिफार्मेशन' के नये धार्मिक विचारो की ओर आकर्षित हो सकती थी। यहापर, और खासकर उत्तरी भागो मे, प्रोटेस्टैण्ट मत फैलने लगा। विरासत के सयोग ने हैप्सबर्ग के चार्ल्स पचम और उसके बाद उमके पुत्र फिलिप द्वितीय को निदरलैण्ड्स का शासक बना दिया। इन दोनो मे से कोई भी किसी भी तरह की राजनैतिक या धार्मिक स्वतन्त्रता सहन नही कर सकता था। फिलिप ने शहरो के विशेषा-

धिकारो को और नये मत को कुचल डालना चाहा। उसने एल्वा के ड्यूक को गवर्नर-जनरल बनाकर भेजा, जो जुल्मो और अत्याचारी शासन के लिए बदनाम हो गया है। 'इनक्विजिशन' स्थापित हुई और एक 'खूनी मजलिस' बनाई गई, जिसने हजारो को जिन्दा जला दिया या फासी पर लटका दिया।

यह एक बडी लम्बी कहानी है। जैसे-जैसे स्पेन का अत्याचार बढता गया, उससे टक्कर लेने की ताकत भी लोगो मे बढती गई। उनमे प्रिंस विलियम, ऑव ऑरेंज या 'शात विलियम' नामक एक ऐसा महान और बुद्धिमान नेता पैदा हुआ, जिसका मुकाबला एल्वा का ड्यूक नही कर सकता था। सन १५६८ ई० मे 'इनक्विजिशन' ने तो कुछ गिने-चुने आदमियो को छोडकर निदरलैण्ड्स के सारे निवासियो को एक ही फैसले मे काफिर करार देकर मौत की सजा दे डाली! यह आश्चर्यजनक फैसला इतिहास मे बे-मिसाल है, जिसने तीन-चार लाइनो मे ही तीस लाख आदमियो को दण्ड दे दिया!

शुरू मे तो यह लडाई निदरलैण्ड्स के अमीरो और स्पेन के बादशाह के बीच ही चलती मालूम पडी। दूसरे देशो मे बादशाह और अमीरो के जो सघर्ष चल रहे थे, करीब-करीब उन्ही जैसी यह भी थी। एल्वा ने उनको कुचल डालने की कोशिश की और बहुत-से अमीरो को ब्रसेल्स मे फासी के तख्ते पर चढना पडा। इन फासी दिये जानेवालो मे काउण्ट एग्मौट नामक एक लोकप्रिय और मशहूर अमीर भी था। इसके बाद एल्वा को जब रुपये की तगी हुई तो उसने नये-नये भारी टैक्स लगाने की कोशिश की। इससे व्यापारी वर्ग की जेबो पर असर पडा और वे लोग बिगड़ खडे हुए। साथ ही कैथलिक और प्रोटेस्टैण्टो के बीच सघर्ष भी चल रहा था।

स्पेन एक बडा जबरदस्त राज्य था, जिसे अपने बडप्पन का पूरा घमण्ड था, उधर निदरलैण्ड्स मे सिर्फ व्यापारियो और निकम्मे और फिजूलखर्च अमीरो के कुछ सूबे थे। दोनो मे कोई बराबरी न थी। लेकिन फिर भी इनको दबाना स्पेन के लिए मश्किल हो गया। बार-बार कत्लेआम होते रहते थे, पूरी-की-पूरी आबादिया मौत के घाट उतार दी जाती थी। मनुष्यो के प्राण हरने मे एल्वा और उसके सेनापति चगेजखा और तैमूर

लीडन के निवासियो मे ऐसी भावना थी, लेकिन जैसे दिन-पर-दिन बीतते जाते और कही से सहायता की सूरत नजर नही आती थी, वैसे ही उनकी निराशा भी बढ़ती जाती थी। आखिर उन्होने हालैण्ड की जागीरो के अपने दोस्तो को बाहर सदेश भेजा। इन जागीरो ने यह जबरदस्त फैसला किया कि लीडन को शत्रुओ के हाथ मे जाने देने से तो यह अच्छा है कि अपन प्यारे देश को जलमग्न कर दिया जाय। और उन्होने घोर सकट मे पड़े हुए अपने साथी शहर को यह उत्तर भेजा—"ऐ लीडन, हम तुझे सकट में छोडने की अपेक्षा यह बेहतर समझेगे कि हमारा सारा देश और हमारी सारी सम्पत्ति समुद्र की लहरो से नष्ट हो जाय।"

आखिरकार एक के बाद दूसरा बाध तोड दिया गया और हवा की मदद पाकर समुद्र का पानी भीतर घुस आया और उसके साथ हालैण्ड के जहाज भोजन और सहायता लेकर आ पहुचे। इस नये दुश्मन समुद्र से भयभीत होकर स्पेन के सैनिक सिर-पर-पाव रखकर भाग खडे हुए। इस तरह लीडन बच गया और उसके निवासियो की वीरता की यादगार मे सन १५७५ ई० मे लीडन का विश्वविद्यालय स्थापित किया गया, जो आजतक मशहूर है।

लेकिन इस महान सघर्ष मे हालैण्ड ने ही ज्यादातर हिस्सा लिया, निदरलैण्ड्स के दक्षिणी हिस्से ने नही। स्पेन के शासक घूस और दबाव से निदरलैण्ड्स के बहुत-से अमीरो को अपनी तरफ मिला लेने मे सफल हो गये और उनके द्वारा उन्हीके देशवासियो को कुचलवाया। उनको इस बात से बड़ी मदद मिली कि दक्षिण मे प्रोटेस्टैण्टो से कैथलिको की सख्या बहुत ज्यादा थी। उन्होने कैथलिको को मिलाने की कोशिश की और कुछ हद तक वे सफल भी हो गये। और भला अमीर-उमरा! शर्म की बात है कि इन लोगो मे से बहुत-से स्पेन के बादशाह की कृपा और अपने लिए धन-दौलत हासिल करने की खातिर देशद्रोह और धोखेबाजी मे कितने नीचे गिर गये थे, देश भले ही जहन्नुम मे चला जाय!

निदरलैण्ड्स की विधान सभा मे भाषण देते हुए विलियम ऑफ ऑरेंज ने कहा था—"निदरलैण्ड्स को कुचलनेवाले निदरलैण्ड्स के ही लोग है। एल्वा का ड्यूक जिस बल की डीग मारता है, वह अगर तुम्हारा ही—

की होड कर रहे थे। कभी तो वे इन मगोलो से भी आगे वढ जाते थे। एल्वा एक के बाद दूसरे शहर पर घेरा डाल रहा था और शहर के बिना-सीखे पुरुष और अक्सर स्त्रिया भी एल्वा के सीखे-सिखाये सैनिको से जल और थल पर तवतक लडते रहते थे, जबतक कि भूख की यन्त्रणा असभव न हो जाती। स्पेन की गुलामी की अपेक्षा अपनी प्यारी-से-प्यारी तमाम चीजो का पूर्ण विनाश तक भी अच्छा समझकर हालैण्ड-निवासियो ने बाध तोड डाले और स्पेन की फौजो को जलमग्न करने तथा भगा देने के लिए उत्तरी समद्र के पानी को दाखिल कर दिया। जैसे-जैसे लडाई गहरी होती गई, वैसे-ही-वैसे उसमे क्रूरता भी आती गई और दोनो पक्ष हद से ज्यादा निर्दय हो गये। सुन्दर हार्लेम नगर का घेरा एक मार्के की घटना है। इसे आखरी दम तक वीरता के साथ बचाने की कोशिश की गई। लेकिन अन्त वही हुआ—सदा की तरह स्पेन के सैनिको द्वारा कत्लेआम और लूटपाट। अल्कमार को भी घेरा गया, लेकिन यह नगर बाध तोडकर बच गया, और लीडन को जब दुश्मनो ने घेर लिया तो भूख और बीमारी से हजारो आदमी मर गये। लीडन के पेडो मे एक भी हरा पत्ता बाकी न रहा था—लोगो ने सब खा डाले। घूरो पर जूठन के टुकडो के लिए स्त्री और पुरुष भुखमरे कुत्तो तक से छीना-झपटी करते, लेकिन फिर भी वे लडे जाते थे और शहर की दीवारो पर से सूखकर काटा हुए और भूख से अधमरे लोग दुश्मन को चुनौती देते थे और स्पेनवालो से कहते थे कि वे चूहे, कुत्ते और चाहे जो कुछ खाकर जिन्दा रहेंगे, लेकिन हार न मानेंगे। "और जब हमारे सिवा कुछ भी बाकी न रहेगा तो विश्वास रखो कि हममे से हरएक अपने बाये हाथ को खा डालेगा और दाहिने हाथ को विदेशी अत्याचारी से अपनी स्त्रियो की, अपनी स्वतन्त्रता की और अपने धर्म की रक्षा करने के लिए बचा रखेगा। अगर ईश्वर भी क्रोध करके हमारे लिए विनाश का विधान कर दे और हमे किसी तरह की राहत न दे तो भी हम तुम्हे भीतर घुसने से रोकने के लिए अपने-आपको हमेशा कायम रखेंगे। जब हमारी आखिरी घड़ी आ जायगी तो हम खुद ही हाथो से शहर में आग लगा देगें और पुरुष, स्त्रिया तथा बच्चे—सब—एक साथ आग में जलकर मर जायगे, लेकिन अपने घरो को हरगिज अपवित्र न होने देगें और न अपने अधिकारो को रौंदा जाने देंगे।"

: १६ :

# चार्ल्स प्रथम

भारत मे अकवर महान की मौत के ठीक दो वर्ष पहले, सन १६०३ ई० में, इंग्लैंड की एलिज़ावेथ की मौत हुई। उसके बाद स्काटलैंड का तत्कालीन राजा गद्दी पर वैठा, क्योंकि उत्तराधिकारियो की वश-परम्परा में वही सवसे निकट था। वह जेम्स प्रथम के नाम से गद्दी पर वैठा और इस तरह इग्लैण्ड और स्काटलैंड का एक सम्मिलित राज्य वन गया। जेम्स प्रथम राजाओ के दैवी अधिकार का हामी था और पार्लमिण्ट को पसन्द नही करता था। जल्दी ही पार्लमिण्ट और उसके वीच झगडा पैदा हो गया। इसीके राज्य-काल में इग्लैड के वहुत-से कट्टर प्रोटेस्टैण्ट अपनी जन्मभूमि को हमेशा के लिए छोड गये और अमरीका मे वसने के लिए सन १६२० ई० मे 'मे-फ्लावर' नामक जहाज से रवाना हो गये। वे उत्तरी किनारे के एक स्थान पर उतरे, जिसे उन्होने न्यू लाई-माउथ नाम दिया। उनके वाद और भी कितने ही वसनेवाले वहां पहुचे और धीरे-धीरे पूर्वी तट के सहारे-सहारे इन वस्तियो की तादाद वढते-वढते तेरह तक पहुच गई। अन्त मे ये वस्तिया मिलकर सयुक्त राज्य अमरीका वन गई। लेकिन यह तो अभी वहुत आगे की वात है।

जेम्स प्रथम का पुत्र था चार्ल्स प्रथम। सन १६२५ ई० मे उसके गद्दी पर वैठने के वाद, वहुत जल्दी झगडा सामने आ गया। सन १६२७ ई० में पार्लमिण्ट ने उसको एक "अधिकारो का प्रार्थनापत्र" पेश किया, जो इंग्लैंड के इतिहास में एक महत्वपूर्ण खरीता है। इस प्रार्थनापत्र मे कहा गया था कि वादशाह स्वेच्छाचारी शासक नही है और वह वहुत-सी वातें नहीं कर सकता। वह गैर-कानूनी तौर पर न तो प्रजा पर टैक्स लगा सकता है और न उसे गिरफ्तार करवा सकता है।

जव उसको यह वतलाया गया कि उसे क्या करना चाहिए, क्या नहीं, तो चार्ल्स ने खीझकर पार्लमिण्ट को भंग कर दिया और उसके विना ही शासन करने लगा। लेकिन कुछ ही वर्ष वाद उसे रुपये की इतनी तगी महसूस हुई कि दूसरी पार्लमिण्ट वुलानी पडी। पार्लमिण्ट के विना चार्ल्स ने जो कुछ किया, इसपर लोग वहुत नाराज थे और नई पार्लमिण्ट तो उससे लड़ाई

निदरलैण्ड्स के नगरो का—दिया हुआ नही है, तो कहा से आया ? उसके जहाज़, रसद, धन, हथियार, सैनिक, ये सब कहा से आये ? निदरलैण्ड्स के लोगो के पास से।"

इस तरह, आखिरकार, स्पेनवाले निदरलैण्ड्स के उस हिस्से को अपनी ओर मिला लेने मे कामयाब हुए, जो आज मोटे तौर पर बेल्जियम कहलाता है। लेकिन लाख कोशिश करने पर भी वे हालैण्ड को काबू मे न ला सके। गौर करने की अजीब बात यह है कि लडाई के दौरान मे, करीब-करीब उसके खत्म होने तक, हालैण्ड ने स्पेन के फिलिप द्वितीय की अधीनता से कभी इन्कार नही किया। वे उसे अपना बादशाह मानने के लिए तैयार थे, बशर्ते कि वह उनके स्वतत्र अधिकारो को मजूर कर लेता। लेकिन अन्त मे उनको उससे सम्बन्ध तोडने के लिए मजबूर होना पडा। उन्होने अपने महान नेता विलियम के सिर पर ताज रखना चाहा, लेकिन उसने इन्कार कर दिया। इस तरह परिस्थिति ने उनको, अपनी इच्छा के विरुद्ध, गणतत्र बनने के लिए मजबूर कर दिया। उस जमाने की बादशाही परम्परा इतनी जबरदस्त थी!

हालैण्ड मे यह सघर्ष कितने ही वर्षों तक चला। सन १६०९ ई० मे कही जाकर हालैण्ड आजाद हुआ। लेकिन निदरलैण्ड्स मे असली लडाई सन १५६७ से १५८४ ई० तक हुई। स्पेन का फिलिप द्वितीय जब विलियम ऑफ ऑरेंज को हरा न सका तो उसने उसे एक हत्यारे के हाथो मरवा डाला। उसकी हत्या के लिए उसने एक सार्वजनिक इनाम का ऐलान किया। उस जमाने मे यूरोप की नैतिकता ऐसी ही थी। विलियम को मारने की कितनी ही कोशिशे असफल हुई। सन १५८४ ई० मे छठवी बार की कोशिश सफल हुई, और यह महापुरुष—जो हालैण्ड भर मे 'पिता विलियम' के नाम से पुकारा जाता था—मारा गया, लेकिन उसका काम पूरा हो चुका था। बलिदान और कष्टो की भट्टी मे से निकलकर डच गणतत्र—हालैण्ड तैयार हो गया था। अत्याचारी और निरकुश शासको के विरुद्ध खडे होने से हरएक देश और जाति को लाभ होता है। इससे साधना प्राप्त होती है और बल बढता है। बलशाली और आत्म-निर्भर हालैण्ड बहुत जल्दी एक बडी समुद्री शक्ति बन गया और बहुत दूर पूर्व तक फैल गया। बेल्जियम, जो हालैण्ड से अलग हो गया था, स्पेन के ही कब्जे मे रहा।

मौत की सजा देना और फिर उसका सिर उड़वा देना, एक बिल्कुल नई और हैरत में डालनेवाली बात थी। यह एक निराली बात है कि अंग्रेजो ने, जो हमेशा से रूढिवादी और जल्दी परिवर्तन के विरोधी रहे है, इस तरह से यह उदाहरण पेश कर दिया कि एक जालिम और देशद्रोही राजा के साथ कैसा बर्ताव किया जाना चाहिए।

इस घटना से यूरोप के बादशाहो, सीजरो, राजाओ और छोटे-मोटे शाहो के दिल दहल गये। अगर आम लोग इतने दुस्साहसी हो जाय और इंग्लैण्ड के उदाहरण पर चलने लगे तो उनका क्या हाल होगा? अगर बस चलता तो इनमें से अनेक इंग्लैण्ड पर हमला करके उसे कुचल डालते, लेकिन इंग्लैण्ड की बागडोर उन दिनो किसी निकम्मे बादशाह के हाथो मे न थी। पहली बार इंग्लैण्ड एक गणराज्य बना था और उसकी रक्षा करने के लिए क्रॉमवैल और उसकी सेना तैयार थी। क्रॉमवैल करीब-करीब तानाशाह था। वह 'लार्ड प्रोटेक्टर' यानी रक्षक स्वामी कहलाता था। उसके कठोर और कुशल शासन मे इंग्लैण्ड की ताकत बढ़ने लगी और उसके जहाजी बेडो ने हालैंड, फ्रान्स और स्पेन के बेडो को मार भगाया। पहली ही बार इंग्लैण्ड यूरोप की प्रधान समुद्री शक्ति बन गया।

: २० :

## बाबर

सन १५२६ ई० मे दिल्ली के कमजोर और तुच्छ अफगान सुल्तान पर बाबर की विजय से भारत मे एक नया ऐतिहासिक जमाना और नया साम्राज्य—मुगल साम्राज्य—शुरू होता है। बीच में थोड़े समय को छोड़कर यह सन १५२६ से १७०७ ई० तक, यानी १८१ वर्ष तक, रहा। ये वर्ष उसकी ताकत और शान के थे, जबकि भारत के महान मुगल की कीर्ति सारे एशिया और यूरोप में फैल गई थी। इस घराने के छः महान शासक हुए, जिनके बाद यह साम्राज्य टुकड़े-टुकड़े हो गया और मराठो, सिख वगैरह ने उसमें से रियासतें बना लीं। इसके बाद अंग्रेज आये, जिन्होंने, केन्द्रीय शक्ति के पतन और देश में फैली हुई गड़बड़ से फायदा उठाकर धीरे-धीरे अपना राज्य जमा लिया।

मोल लेने का मौका ही ताक रही थी। दो साल बीते भी न थे कि सन १६४२ ई० मे गृह-युद्ध शुरू हो गया, जिसमे एक तरफ तो था बादशाह, जिसकी मदद पर बहुत-से अमीर-उमरा और फौज का बडा हिस्सा था, और दूसरी तरफ थी पार्लमिण्ट, जिसके मददगार थे धनी व्यापारी और लदन के नागरिक। कई वर्षो तक यह लडाई खिचती रही और अन्त मे पार्लमिण्ट की तरफ एक महान नेता, ओलिवर क्रॉमवैल, उठ खडा हुआ। वह बडा जबरदस्त सगठन करनेवाला, कडा अनुशासन रखनेवाला और अपने उद्देश्य में कट्टर विश्वास रखनेवाला व्यक्ति था। क्रॉमवैल ने एक नई सेना का सगठन किया और उसे अपने खुद के अनुशासित उत्साह से भर दिया। अन्त में क्रॉमवैल की जीत हुई और बादशाह चार्ल्स पार्लमिण्ट का कैदी हो गया।

पार्लमिण्ट के बहुत-से मेम्बर अब भी बादशाह से समझौता करना चाहते थे, लेकिन क्रॉमवैल की नई सेना इस बात को सुनना भी नही चाहती थी और इस सेना के एक अफसर कर्नल प्राइड ने वेधडक पार्लमिण्ट भवन में घुसकर ऐसे मेम्बरो को निकाल बाहर किया। इस घटना को 'प्राइड्स पर्ज' यानी प्राइड की सफाई कहा जाता है। यह उपाय बडा सख्त था और पार्लमिण्ट का गौरव बढानेवाला न था। अगर पार्लमिण्ट ने बादशाह की निरकुशता का विरोध किया तो यहा अब खुद उसीकी सेना ऐसी ताकत बन गई, जो उसके कानूनी शब्दजाल की कुछ परवा नही करती थी।

बचे हुए मेम्बरो ने, जिनको 'रम्प पार्लमिण्ट' का नाम दिया गया था, चार्ल्स पर मुकदमा चलाने का फैसला कर लिया और उसे "जालिम, देशद्रोही, हत्यारा और देश का शत्रु" घोषित करके मौत की सजा दे दी। सन १६४७ ई० मे इस मनुष्य का, जो उनका बादशाह रह चुका था और शासन करने के अपने दैवी अधिकार की बात करता था, लदन में सिर उड़ा दिया गया।

बादशाह लोग भी साधारण मनुष्यो की तरह ही मरते है। इतिहास बतलाता है कि वास्तव मे इनमे से बहुतो की मौत हत्या से ही हुई है। निरकुशता और बादशाहत से खून और कत्ल पैदा होते है और इग्लैण्ड के बादशाहो ने अबतक काफी गुप्त हत्याए करवाई थी। लेकिन एक चुनी हुई सभा का अपने-आपको अदालत बना लेने की हिम्मत करना, उसे

भारत मे उसे आये चार वर्ष भी न वीते थे कि बाबर की मृत्यु हो गई। लेकिन ये चार वर्ष लडाई-झगडो मे ही वीते और उसे ज़रा भी आराम न मिला। वह भारत के लिए एक अजनबी ही रहा और यहा के बारे मे कुछ न जान सका। आगरे मे उसने एक शानदार राजधानी की नीव डाली और कुस्तुन्तुनिया से एक मशहूर राज-मिस्त्री को बुलाया।

बाबर ने अपने सस्मरण लिखे है और इस मजेदार किताब मे बाबर के व्यक्तित्व की अन्दरूनी झलक मिलती है। उसने भारत और उसके जानवरो, फूलो, पेडो, फलो का वर्णन किया है, यहातक कि मेढको को भी नही छोडा है। वह अपने वतन के खरबूजो, अगूरो और फूलो के लिए छटपटाता है। भारतवासियो के बारे मे हद दर्जे की निराशा जाहिर करता है। उसके कहने के मुताबिक तो उनके पक्ष मे कोई अच्छी बात नही है। शायद चार वर्षो तक लडाइयो मे फसा रहने के कारण वह भारतवासियो को पहचान न सका और सुसस्कृत वर्गो के लोग इस नये विजेता से दूर-दूर भी रहे। शायद एक नवागन्तुक दूसरे देश के निवासियो के जीवन और उनकी सभ्यता मे आसानी से घुल-मिल नही सकता। जो हो, उसे न तो अफगानो में, जो कुछ दिनो से भारत मे राज कर रहे थे और न ज्यादातर भारतवासियो में ही कोई तारीफ की बात नज़र आई। वह एक कुशल निरीक्षक था और एक विदेशी की पक्षपात से भरी दृष्टि का खयाल रखते हुए भी उसके वर्णन से मालूम होता है कि उत्तर भारत की हालत उस वक्त बहुत खराब थी। वह दक्षिण भारत की तरफ बिल्कुल नही गया।

बाबर ने लिखा है—"भारत का साम्राज्य बडा लम्बा-चौडा, घना बसा हुआ और मालदार है। उसकी पूर्व, दक्षिण और पश्चिम की सीमाओ पर समुद्र है। उसके उत्तर मे काबुल, गजनी और कधार है। सारे भारत की राजधानी दिल्ली है।" यह बात ध्यान मे रखने लायक है कि बाबर सारे भारत को एक देश समझता था, हालाकि जब वह यहा आया था, देश कई राज्यो मे बंटा हुआ था। भारत की एकता की यह भावना इतिहास में शुरू से चली आ रही है।

भारत का वर्णन करते हुए बाबर लिखता है .

"यह एक निराला ही मनोरम देश है। हमारे देशो के मुकाबले में यह

चगेजखा और तैमूर के वश का होने की वजह से बाबर मे कुछ-कुछ उनका बडप्पन और सैनिक योग्यता थी। लेकिन चगेज के जमाने से अबतक मगोल लोग बहुत सभ्य हो गये थे और बाबर जैसा सुसस्कृत और दिलपसद व्यक्ति उस जमाने मे मिलना मुश्किल था। उसमे जाति-द्वेष बिल्कुल न था, न धार्मिक कट्टरता थी और न उसने अपने पुरखो की तरह विनाश ही किया। वह कला और साहित्य का पुजारी था और खुद भी फारसी का कवि था। वह फूलो और बागो से प्रेम करता था और भारत की गरमी में उसे अक्सर अपने देश मध्य-एशिया की याद आ जाती थी।

अपने पिता की मृत्यु पर जब बाबर समरकन्द का शासक हुआ, तब वह सिर्फ ग्यारह वर्ष का बालक था। काम आसान न था। उसके चारो तरफ दुश्मन थे। इसलिए जिस उम्र मे छोटे लडके और लडकिया स्कूल जाते है, उस उम्र मे उसे तलवार लेकर लडाई के मैदान मे जाना पडा। उसकी राजगद्दी छिन गई, लेकिन उसने फिर से उसे जीत लिया और अपनी तूफानी जिन्दगी मे उसे अनेक खतरो का सामना करना पडा। इसपर भी वह साहित्य, कविता और कला का अभ्यासी रहा। महत्वाकाक्षा उसे आगे हाकती रही। काबुल को जीतकर वह सिध नदी पार करके भारत में आया। उसके साथ फौज तो थोडी-सी थी, लेकिन उसके पास नई तोपे थी, जो उन दिनो यूरोप और पश्चिमी एशिया मे काम मे लाई जा रही थी। अफगानो की जो बडी भारी फौज उससे लडने आई, वह इस छोटी-सी, लेकिन अच्छी तरह सिखाई हुई फौज और उसकी तोपो के आगे तहस-नहस हो गई और विजय बाबर के हाथ लगी। लेकिन उसकी मुसीबतो का अन्त नही हुआ और कितनी ही बार उसके भाग्य का पलडा डावाडोल हो गया था। एक बार जब वह बहुत खतरे मे था, उसके सेनापतियो ने उसे उत्तर की ओर वापस भाग चलने की सलाह दी। लेकिन वह बडा जीवटवाला था और उसने कहा कि पीछे हटने से तो वह मौत का सामना करना अच्छा समझता है। शराब उसे बहुत प्रिय थी। लेकिन अपने जीवन मे इस सकट के समय उसने शराब छोड देने का निश्चय किया और अपने सब प्याले तोड डाले। सयोग से वह जीत गया और उसन शराब छोडने की अपनी प्रतिज्ञा को अन्त तक निभाया।

# इतिहास
# के
# महापुरुष

एक अलग ही दुनिया है। इसके पहाड और नदिया, इसके जगल और मैदान, इसके जानवर और पौधे, इसके निवासी और उनकी भाषा, इसकी हवा और बरसात, सब अलग ही तरह के है।　　सिंध को पार करते ही जो देश, पेड, पत्थर, घुमक्कड कबीले और लोगो के ढग और रस्म-रिवाज दिखलाई पडते है, वे ठेठ भारत के ही है। साप तक दूसरी तरह के है। भारत के मेंढक गौर करने लायक है। हालाकि ये उसी जाति के है, जिस जाति के हमारे यहा होते है, लेकिन ये पानी की सतह पर छ-सात गज तक दौड सकते है।"

इसके बाद वह भारत के जानवरो, फूलो, पेडो और फलो की एक सूची देता है। इसके बाद वह यहा के रहनेवालो का वर्णन करता है

"भारत के देश में आनन्द के कोई ऐसे साधन नही है, जिनके लिए इसकी तारीफ की जाय। यहा के निवासी सुरूप नही है। उन्हे मित्रमडली के आनन्द का, या दिल खोलकर एक-दूसरे से मिलने का या आपसी घरू बर्ताव का कुछ भी ज्ञान नही है। उनमे न तो प्रतिभा है, न दिमाग की सूझ-बूझ, न शिष्टाचार की नम्रता, न दया या सहानुभूति, न दस्तकारी के कामो का ढाचा बनाने और उनको कार्यान्वित करने की चतुरता या यान्त्रिक आविष्कार-बुद्धि, न नक्शे और इमारते बनाने का हुनर या ज्ञान। उनके यहा न तो अच्छे घोडे है, न अच्छा मास, न अगूर और न खरबूजे, न अच्छे फल, न बर्फ, न ठडा पानी, न बाजारो मे अच्छा खाना और रोटी, न हम्माम, न विद्यालय, न मोमबत्तिया, न मशालें, यहातक कि शमादान भी नही है।" इस बात पर यह पूछने की इच्छा हो उठती है कि आखिर उनके यहा है क्या ? मालूम होता है बाबर ने ये बाते उस वक्त लिखी होगी, जब वह शायद बिल्कुल ऊब चुका होगा।

बाबर कहता है

"भारत की सबसे बडी खूबी यह है कि वह बहुत बडा देश है और यहा सोना और चादी भरे पडे है।　　भारत मे एक सुविधा यह भी है कि यहा हर पेशे और व्यापार के काम करनेवालो की सख्या इतनी ज्यादा है कि उसका कोई अन्त ही नही। किसी काम या धधे के लिए जब चाहो तब एक समह तैयार है, जिनके यहा वही काम-धधा पीढी-दर-पीढी चला आ रहा है।"

बाबर के संस्मरणों से मैंने कुछ लम्बे उद्धरण यहा दिये हैं। ऐसी किताबों से हमको किसी व्यक्ति का जितना ज्यादा अदाज होता है, उतना उसके बारे में किसी वर्णन से नही।

सन १५३० ई० मे ४९ वर्ष की उम्र में बाबर की मृत्यु हुई। उसकी मृत्यु के बारे में एक मशहूर किस्सा है। उसका पुत्र हुमायू बीमार पडा और कहते है कि उसके प्रेम मे बाबर खुद अपना जीवन भट चढाने के लिए तैयार हो गया, बशर्ते कि उसका पुत्र अच्छा हो जाय। कहते है कि हुमायू अच्छा हो गया और इस घटना के कुछ ही दिन बाद बाबर की मृत्यु हो गई।

बाबर की लाश को लोग काबुल ले गये और वहा उसी बाग मे उसे दफनाया, जो बाबर को बहुत पसद था। जिन फूलो के लिए वह तरसता था, अन्त में वह उन्हीके पास चला गया।

## : २१ :

# अकबर

अपने सेनापतित्व और अपनी सैनिक योग्यता के बल पर बाबर ने उत्तर भारत का बहुत-सा भाग जीत लिया था। उसने दिल्ली के अफगान सुल्तान को हरा दिया और बाद मे राजपूत इतिहास के एक प्रसिद्ध वीर चित्तौड के रण-बाकुरे राणा सागा के नेतृत्व मे लडनेवाले राजपूतो को हराया, जो ज्यादा मुश्किल काम था। लेकिन इससे भी ज्यादा मुश्किल काम वह अपने पुत्र हुमायू के लिए छोड गया। हुमायू बहुत सुसंस्कृत और विद्वान था, लेकिन अपने पिता की तरह सैनिक न था। उसके नये साम्राज्य मे सब जगह गडबड फैल गई और आखिर सन १५४० ई० मे, बाबर की मृत्यु के दस वर्ष बाद, बिहार के शेरखा नामक अफगान सरदार ने उसे हराकर भारत से बाहर निकाल दिया। इस तरह यह दूसरा महान मुगल इधर-उधर छिपता हुआ और बडी मुसीबतें झेलता हुआ मारा-मारा फिरने लगा। इसी भाग-दौड की हालत में, राजपूताना के रेगिस्तान में, नवम्बर सन १५४२ ई० मे उसकी स्त्री ने एक पुत्र को जन्म दिया। रेगिस्तान में पैदा हुआ यह पुत्र आगे चलकर अकबर के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

हुमायू भागकर ईरान पहुचा और वहा के बादशाह शाह तहमास्प ने उसे शरण दी। इस अरसे मे उत्तरी भारत मे शेरखा का दबदबा खूब फैला और उसने शेरशाह के नाम से पाच वर्ष तक राज्य किया। इस थोडे-से समय मे ही उसने बतला दिया कि वह बहुत योग्य और कुशल व्यक्ति था। वह प्रतिभाशाली व्यवस्थापक था और उसका शासन सजीव और कारगर था। अपने युद्धो के बीच भी उसने किसानो पर टैक्स नियत करने की एक नई और अच्छी लगान-प्रणाली जारी करने का समय निकाल लिया। वह सख्ती बरतनेवाला और कठोर व्यक्ति था, लेकिन भारत के सारे अफगान शासको में, और बहुत-से अन्य शासको मे भी, वह सबसे योग्य और अच्छा था। लेकिन जैसाकि अक्सर कुशल स्वेच्छाचारी शासको का हाल हुआ करता है, वह खुद ही सारे शासन का कर्ता-धर्ता था। इसलिए उसकी मृत्यु के बाद सारा ढाचा टुकडे-टुकडे हो गया।

हुमायू ने इस अव्यवस्था से फायदा उठाया और सन १५५६ ई० में वह एक सेना लेकर ईरान से लौटा। उसकी जीत हुई और सोलह वर्ष बाद वह फिर दिल्ली के सिंहासन पर आ बैठा। लेकिन वह ज्यादा दिन के लिए नही। छ महीने बाद ही वह जीने पर से गिरकर मर गया।

अकबर उस समय सिर्फ तेरह वर्ष का था। अपने दादा की तरह इसे भी राजगद्दी बहुत जल्दी मिल गई। बैरमखा, जिसे खानाबाबा भी कहते हैं, इसका अभिभावक और सरक्षक था। लेकिन चार ही वर्षो में अकबर इस अभिभावकता से और दूसरे आदमी के इशारे पर चलने से तग आ गया और उसने राज्य-शासन की बागडोर अपने हाथो मे ले ली।

सन १५५६ से १६०५ ई० तक, यानी करीब पचास वर्ष तक, अकबर ने भारत पर राज किया। यह जमाना यूरोप मे निदरलैण्ड्स के विद्रोह का और इग्लैण्ड मे शेक्सपियर का था। अकबर का नाम भारत के इतिहास में जगमगा रहा है और कभी-कभी कुछ बातो मे वह हमे अशोक की याद दिलाता है। यह एक अजीब बात है कि ईसा से तीनसौ वर्ष पहले का एक बौद्ध सम्राट और ईसा के बाद सोलहवी सदी का एक मुसलमान सम्राट दोनो एक ही ढग से और करीब-करीब एक ही आवाज मे बोल रहे है। ताज्जुब नही कि यह खुद भारत की ही आवाज हो, जो उसके दो महान पुत्रो के जरिये बोल

रही हो ! अशोक के बारे मे हम सिर्फ उतना ही जानते है, जितना उसने खुद पत्थरो पर खुदा हुआ छोडा है, लेकिन अकबर के बारे मे हम बहुत-कुछ जानते है । उसके दरबार के दो समकालीन इतिहासकारो के लम्बे वर्णन मिलते है और जो विदेशी उससे मिलने आये थे—खासकर जेसुइट लोग, जिन्होने उसे ईसाई बनाने की जोरदार कोशिश की थी—उन्होने भी लम्बे-चौड़े हाल लिखे है ।

यह बाबर की तीसरी पीढी मे था । लेकिन मुगल लोग अभी इस देश के लिए नये थे । वे विदेशी समझे जाते थे और उनका अधिकार फौजी ताकत के बल पर था । अकबर के राज ने मुगल खान्दान की जड जमा दी और उसको यही की धरती का और पूरी तरह भारतीय दृष्टिकोणवाला बना दिया। इसीके राज्यकाल मे यूरोप मे मुगल सम्राटो के लिए 'महान मुगल' का खिताब काम में लाया जाने लगा। वह बहुत स्वेच्छाचारी था और उसके अधिकारो पर कोई अकुश लगानेवाला न था। मालूम होता है कि उस वक्त भारत मे राजा के अधिकारो पर रोक-थाम लगाने की कोई चर्चा तक नही थी । सयोग से अक़बर एक बुद्धिमान सर्वाधिकारी था और वह भारत के लोगो की भलाई के लिए जी-तोड़ कोशिश करता रहता था । एक तरह से वह भारत मे राष्ट्रीयता का जन्मदाता माना जा सकता है। ऐसे समय मे, जबकि देश मे राष्ट्रीयता का कुछ भी निशान न था और धर्म लोगो को एक-दूसरे से अलग कर रहा था, अकबर ने जुदा-जुदा धर्मो के दावो के ऊपर भारतीय राष्ट्रीयता का आदर्श स्थापित किया । वह अपनी कोशिश मे पूरी तरह तो सफल नही हुआ, लेकिन यह अचभे की बात है कि वह कितना आगे बढ गया और उसकी कोशिशे को कितनी ज्यादा सफलता मिली ।

लेकिन फिर भी अकबर को जो कुछ सफलता मिली, उसका सारा श्रेय उस अकेले को ही नही है। जबतक उपयुक्त समय न आ गया हो और वातावरण सहायक न हो. तबतक कोई भी मनुष्य महान कार्यो मे सफल नही हो सकता। महापुरुष खुद अपना वातावरण पैदा करके जमाने को जल्दी बदल सकता है, लेकिन महापुरुष खुद भी तो जमाने का और तत्कालीन वातावरण का ही फल होता है। इसी तरह अकबर भी भारत के उस जमाने का फल था।

रामानन्द, कबीर और गुरु नानक जैसे सुधारक और धार्मिक गुरुओ के बारे में मैं लिख चुका हू, जिन्होने इस्लाम और हिन्दू-धर्म के समान पहलुओ पर जोर देकर और उनके बहुत-से रीति-रस्म और आडम्बरो की निन्दा करके दोनो को एक-दूसरे के नजदीक लाने की कोशिश की थी। उस समय एकीकरण की यह भावना चारो ओर फैली हुई थी और अकबर इसका मुख्य प्रतिपादक बन गया।

एक राजनीतिज्ञ की हैसियत से भी वह इसी नतीजे पर पहुचा होगा कि उसका और राष्ट्र का बल इसी एकीकरण से बढ सकता है। वह एक बहुत बहादुर योद्धा और कुशल सेनानायक था। अशोक की तरह वह लडाई से घृणा नही करता था, लेकिन तलवार की विजय से वह प्रेम की विजय को अच्छी समझता था और यह भी जानता था कि ऐसी विजय ज्यादा टिकाऊ होती है। इसलिए वह दृढ निश्चय के साथ हिन्दू सरदारो और हिन्दू जनता का प्रेम प्राप्त करने मे जुट गया। उसने गैर-मुस्लिमो से वसूल किया जानेवाला जजिया और हिन्दू-तीर्थ यात्रियो पर लगाया जानेवाला टैक्स बन्द कर दिया। उसने खुद अपना विवाह एक उच्च राजपूत वश की लडकी से किया, बाद मे उसने अपने पुत्र का विवाह भी एक राजपूत लडकी से किया और उसने ऐसी मिश्रित शादियो को प्रोत्साहन दिया। उसने अपने साम्राज्य के ऊचे-से-ऊचे ओहदो पर राजपूत सरदारो को नियुक्त किया। उसके सबसे बहादुर सेनापतियो और सबसे योग्य मन्त्रियो और सूबेदारो मे कितने ही हिन्दू थे। राजा मानसिंह को तो उसने कुछ दिनो के लिए काबुल तक का गवर्नर बनाकर भेजा था। देखा जाय तो राजपूतो की और अपनी हिन्दू प्रजा की सद्भावना प्राप्त करने के लिए कभी-कभी तो वह इतना आगे बढ जाता था कि मुसलमान प्रजा के साथ अक्सर अन्याय हो जाता था। बहरहाल वह हिन्दुओ की सद्भावना प्राप्त करने मे सफल हुआ और उसकी नौकरी करने और उसे सम्मान देने के लिए चारो ओर से लगभग सभी राजपूत इकट्ठे होने लगे, सिवाय मेवाड के राणा प्रताप के, जिसने कभी सिर नही झुकाया। राणा प्रताप ने अकबर को नाममात्र के लिए भी अपना सम्राट मानने से इन्कार कर दिया। युद्ध-क्षेत्र में हार जाने पर भी उसने अकबर का माडलिक बनकर लाड-प्यार का विलासी जीवन बिताने की अपेक्षा जगल में छिपते

फिरना अच्छा समझा। जिन्दगी भर यह गर्वीला राजपूत दिल्ली के महान सम्राट से लडता रहा और उसके सामने सिर झुकाना मजूर नही किया। अपने जीवन के अन्तकाल मे उसे कुछ सफलता भी मिली। इस रण-बांकुरे राजपूत की यादगार राजपूताना की एक बहुमूल्य निधि है और इसके नाम के साथ कितनी ही गाथाए जुड गई है।

इस तरह अकबर ने राजपूतो को अपनी तरफ कर लिया और वह जनता का प्यारा हो गया। वह पारसियो और अपने दरबार मे आनेवाले जेसुइट पादरियो तक के प्रति बडा उदार था।

मैने अकबर की तुलना अशोक से की है। लेकिन बहुत-सी बातों में वह अशोक से बिलकुल भिन्न था। वह बडा महत्त्वाकाक्षी था और अपने जीवन के अन्त समय तक वह अपना साम्राज्य बढाने की धुन में विजय-यात्राए करता रहा। जेसुइट लोगो ने लिखा है कि वह "चौकस और पारखी दिमागवाला था, वह समझ का पक्का, मामलो में दूरदर्शी और इन सबके अलावा दयालु, मिलनसार और उदार था। इन गुणो के साथ उसमे बडे-बडे जोखिम के कामो को उठाने और पूरा करने की हिम्मत भी थी। वह बहुत-सी बातो मे दिलचस्पी रखता था, और उनके बारे में जानने को इच्छुक रहता था, उसे न सिर्फ सैनिक और राजनैतिक बातो का ही, बल्कि बहुत-से कला-कौशल का भी गहरा ज्ञान था। जो लोग उसके व्यक्तित्व पर हमला करते थे, उनपर भी इस राजा की क्षमा और नम्रता की रोशनी पडती रहती थी। उसे क्रोध बहुत ही कम आता था। अगर कभी आता था तो उसका आवेश भयकर हो जाता था, लेकिन उसका यह क्रोध ज्यादा देर तक न टिकता था।"

यह वर्णन किसी चापलूस मुसाहब का नही है, लेकिन एक विदेशी अजनबी का है, जिसे अकबर का निरीक्षण करने के काफी मौके मिलते थे।

शारीरिक दृष्टि से अकबर अपूर्व बलशाली और फुर्तीला था और वह जगली और खूखार जानवरो के शिकार से अधिक किसी चीज से प्रेम नही करता था। एक सिपाही की हैसियत से तो वह इतना वीर था कि उसे अपनी जान तक की बिल्कुल परवा न थी। उसकी आश्चर्यजनक शक्ति का अनुमान आगरे से अहमदाबाद की उस प्रसिद्ध यात्रा से लगाया जा सकता

है, जो उसने नौ दिन में पूरी की थी। गुजरात में विद्रोह हो गया था और अकवर एक छोटी-सी सेना के साथ उस जमाने मे राजपूताना के रेगिस्तान को पार करके साढे चारसौ मील की दूरी तय करके वहा जा धमका। यह एक असाधारण करतब था।

लेकिन इन गुणो के अलावा महान पुरुषो मे कुछ और भी होता है। उनमे एक तरह की आकर्षण-शक्ति होती है, जो लोगो को उनकी तरफ खीचती है। अकबर मे यह व्यक्तिगत आकर्षण-शक्ति और मोह-शक्ति बहुत अधिक मात्रा में थी। जेसुइट लोगो के अद्भुत वर्णन के मुताबिक उसकी बस मे कर लेनेवाली आखे "इस तरह झिलमिलाती थी, जिस तरह सूरज की रोशनी मे समुद्र।" फिर इसमे ताज्जुब की क्या बात है कि यह व्यक्ति हमको आजतक मोहित करता है और उसका शाही तथा पुरुषत्व-भरा स्वरूप उन ढेरो लोगो से बहुत ऊचा दिखलाई पडता है, जो सिर्फ बादशाह हुए है।

विजेता की दृष्टि से अकबर ने सारे उत्तर भारत और दक्षिण को भी जीत लिया था। उसने गुजरात, बगाल, उडीसा, काश्मीर और सिध अपने साम्राज्य मे मिला लिये। मध्य और दक्षिण-भारत मे भी उसकी विजय हुई और उसने कर वसूल किया। लेकिन मध्य-प्रान्त की रानी दुर्गावती को हराना उसकी कीर्ति को नही बढाता। दुर्गावती एक वीरागना और न्यायप्रिय रानी थी और उसने अकवर को कुछ नुकसान नही पहुचाया था। लेकिन महत्वाकाक्षी और साम्राज्य-लिप्सा इन छोटी-मोटी अडचनो की बिल्कुल परवा नही करती। दक्षिण मे उसकी सेनाए अहमदनगर की प्रबन्ध-कर्त्री मशहूर चादबीबी से लडी। इस महिला मे साहस और योग्यता थी और उसने युद्ध मे जो लोहा लिया, उसका असर मुगल फौज पर इतना पडा कि उन्होने उसके साथ अनुकूल शर्तो पर सुलह मजूर करली। दुर्भाग्य से कुछ दिन बाद उसके ही कुछ असन्तुष्ट सिपाहियो ने उसे मार डाला।

अकवर की फौजो ने चित्तौड पर भी घेरा डाला। यह राणा प्रताप से पहले की बात है। जयमल ने बडी वीरता से चित्तौड की रक्षा की। उसके मारे जाने पर भयकर 'जौहर' व्रत हुआ और चित्तौड जीत लिया गया।

अकबर ने अपने चारो तरफ बहुत-से योग्य सहायक इकट्ठे कर लिये,

जो उसके प्रति बडे वफादार थे। इनमे मुख्य फैजी और अबुलफजल दो भाई थे, और एक था बीरबल, जिसके बारे मे अनगिनती कहानिया आजतक प्रचलित है। अकबर का वित्त-मत्री था टोडरमल। इसीने लगान की सारी प्रणाली को बदला था। उन दिनो जमीदारी प्रथा न थी और न जमीदार थे, न ताल्लुकेदार। राज्य खुद किसानो या रैयतो से लगान वसूल करता था।

जयपुर का राजा मानसिंह अकबर के सबसे अच्छे सेनापतियो मे से था। अकबर के दरबार मे एक और प्रसिद्ध आदमी था—महान गायक तानसेन, जिसे आज भारत के सारे गवैये अपना गुरु मानते है।

शुरू मे अकबर की राजधानी आगरा थी, जहा उसने किला बनवाया। इसके बाद उसने आगरा से पन्द्रह मील दूर फतहपुर-सीकरी में एक नया शहर बसाया। उसने यह जगह इसलिए पसन्द की कि यहा शेख सलीम चिश्ती नाम के एक मुस्लिम सत रहते थे। यहा उसने एक आलीशान शहर बनवाया जो उस वक्त के एक अग्रेज यात्री के शब्दो मे "लन्दन से भी ज्यादा बडा" था और यही पन्द्रह वर्ष से ज्यादा उसके साम्राज्य की राजधानी रहा। बाद मे उसने लाहौर को अपनी राजधानी बनाया। अकबर का मित्र और मत्री अबुल फजल लिखता है—"बादशाह सलामत आलीशान इमारतो के नकशे सोचते है और अपने दिल और दिमाग की सूझ को पत्थर और मिट्टी का जामा पहना देते है।"

फतहपुर-सीकरी और उसकी खूबसूरत मस्जिद, उसका जबरदस्त बुलद दरवाजा और बहुत-सी दूसरी सुन्दर इमारते आज भी मौजूद है। यह शहर उजड गया है और उसमे किसी तरह की हलचल अब नही है, लेकिन उसकी गलियो मे और उसके चौडे सहनो में एक मिटे हुए साम्राज्य की छायाए आज भी चलती मालूम होती है।

मौजूदा इलाहाबाद शहर भी अकबर का बसाया हुआ है, लेकिन जगह यह जरूर बहुत प्राचीन है और प्रयाग तो यहा रामायण के युग से चला आ रहा है। इलाहाबाद का किला अकबर का बनवाया हुआ है।

अकबर का जीवन एक विशाल साम्राज्य को जीतने और उसे संगठित करने में व्यस्त रहा होगा, लेकिन इसके अन्दर अकबर का एक और

विचित्र गुण नजर आता है। यह थी उसकी असीम ज्ञान-पिपासा और सत्य की खोज। जो कोई किसी भी विषय पर रोशनी डाल सकता था, उसे बुलाया जाता था और उससे प्रश्न किये जाते थे। अलग-अलग धर्मो के लोग इबादतखाने मे उसके चारो तरफ बैठते थे और हरएक इस महान बादशाह को अपने धर्म मे शामिल करने की आशा रखता था। वे अक्सर एक-दूसरे से झगड पडते थे और अकबर बैठा-बैठा उनकी बहसे सुनता रहता और उनसे बहुत-से सवाल पूछता रहता था। मालूम होता है, उसे यह विश्वास हो गया था कि सत्य का ठेका किसी खास धर्म या फिरके ने नही ले रखा है और उसने यह घोषणा कर दी थी कि वह धर्म मे सार्वभौम सहिष्णुता के सिद्धान्त को मानता है।

उसके जमाने के इतिहास-लेखक बदायूनी ने, जो ऐसे बहुत-से मजमो मे शामिल होता रहा होगा, अकबर के बारे में मजेदार बयान लिखा है। बदायूनी खुद एक कट्टर मुसलमान था और वह अकबर की इन कार्रवाइयो को बिलकुल नापसन्द करता था। वह लिखता है .

"जहापनाह हरएक के विचार इकट्ठे करते थे, खासकर ऐसे लोगो के, जो मुसलमान नही थे और उनमे से जो बातें उनको अच्छी लगती, उन्हे रख लेते और जो उनके मिजाज के खिलाफ और उनकी इच्छाओ के विरुद्ध जाती, उन सबको त्याग देते थे। शुरू बचपन से जवानी तक और जवानी से बुढापे तक, जहापनाह बिल्कुल अलग-अलग तरह की हालतो में से और सब तरह के धार्मिक कर्मो और साम्प्रदायिक विश्वासो मे से गुजरे है, और जो कुछ किताबो मे मिल सकता है, उस सबको उन्होने चुनाव करने के उस विचित्र गुण से, जो खास उन्हींमे पाया जाता है, इकट्ठा किया है, और जिज्ञासा की उस भावना से इकट्ठा किया है, जो हर इस्लामी उसूल के खिलाफ है। इस तरह उनके दिल के आईने पर किन्ही मूल सिद्धान्तो के आधार पर एक विश्वास का नकशा खिच गया है और उनपर जो-जो असर पडे है, उन सबके फलस्वरूप उनके दिल में पत्थर की लकीर की तरह धीरे-धीरे यह धारणा जमती गई है कि सब धर्मो में समझदार आदमी है और सब कौमो में सयमी विचारक और चमत्कारी शक्तिवाले लोग हैं।

अगर कोई सच्चा ज्ञान इस तरह हर जगह मिल सकता हो तो सत्य किसी एक ही धर्म मे कैसे सीमित हो सकता है ?"

इस जमाने मे यूरोप मे धार्मिक मामलो मे बडी जबरदस्त असहिष्णुता फैली हुई थी। इनक्विजिशन का दौर-दौरा था और कैथलिक और कालविनिस्ट दोनो एक-दूसरे को सहन करना घोर पाप समझते थे।

अकबर ने वर्षो तक सब धर्मो के आचार्यो मे अपनी धर्म-चर्चाए और बहसे जारी रखी, यहातक कि अन्त मे वे सब उकता गये और उन्होने अकबर को अपने-अपने खास धर्म मे मिला सकने की आशा छोड दी। जब हरएक धर्म मे सत्य का कुछ-न-कुछ अश था तो वह उनमे से किसी एक को कैसे चुन सकता था ? जेसुइट लोगो के लिखे मुताबिक वह कहा करता था—"हिन्दू लोग अपने सिद्धान्तो को ठीक मानते है और इसी तरह मुसलमान और ईसाई भी मानते है, तो फिर हम इनमे से किसको अपनाये ?" अकबर का सवाल बड़ा उपयुक्त था, लेकिन जेसुइट लोग इससे चिढ़ते थे और उन्होने अपनी किताब मे लिखा है—"इस बादशाह मे हम उस नास्तिक की-सी आमगलती देखते है, जो बुद्धि को श्रद्धा का दास बनाने से इन्कार करता है और जिस बात की गहराई को उसका कमजोर दिमाग न पा सके, उसे सत्य न स्वीकार करता हुआ वह उन बातो को अपने अपूर्ण विवेक पर छोड़कर सन्तुष्ट हो जाता है, जो मानव-ज्ञान की सर्वोच्च सीमा से भी परे है।" अगर नास्तिक की यही परिभाषा है तो जितने ज्यादा नास्तिक हो उतना ही अच्छा !

अकबर का लक्ष्य क्या था, यह साफ नही मालूम पडता। क्या वह इस सवाल को खाली राजनैतिक निगाह से देखता था ? सबके लिए एक राष्ट्रीयता ढूढ निकालने के इरादे से कही वह भिन्न-भिन्न धर्मो को जबरदस्ती एक ही रास्ते में तो नही डालना चाहता था ? या क्या उसकी प्रेरणाए और उसकी खोज धार्मिक थी ? मै नही जानता। लेकिन मेरा खयाल इधर झुकता है कि वह धार्मिक सुधारक की अपेक्षा राजनीतिज्ञ ही ज्यादा था। उसका उद्देश्य चाहे जो रहा है, उसने सचमुच एक नये धर्म 'दीने इलाही' की घोषणा कर दी, जिसका प्रमुख वह खुद था। दूसरी बातो की तरह धार्मिक मामलो में भी उसके एकाधिकार को कोई अस्वीकार नही कर सकता था और चरणो में

लोटना, कदम-बोसी वगैरह नफरत पैदा करनेवाली बातें थी। यह नया धर्म चला नही। हुआ यह कि इसने मुसलमानो को चिढा दिया।

अकबर एकाधिपत्य की तो साक्षात मूर्त्ति था। फिर भी यह कल्पना करने मे मजा आता है कि उदार राजनैतिक विचारो का उसपर क्या असर हुआ होता। अगर धर्मपालन की स्वतन्त्रता मानी जाती थी तो जनता को अधिक राजनैतिक स्वतत्रता क्यो नही ? विज्ञान की तरफ वह जरूर खूब आकर्पित हुआ होता। खेद है कि ये विचार, जिन्होने उस समय यूरोप के कुछ लोगो को परेशान करना शरु कर दिया था, उस समय के भारत मे प्रचलित नही हुए थे। छापेखानो का भी उस समय कोई उपयोग होता नजर नही आता। इसलिए शिक्षा का दायरा बहुत छोटा था। इस जानकारी से ताज्जुब होगा कि अकबर अनपढ था, यानी वह पढ-लिख नही सकता था। लेकिन फिर भी वह उच्च शिक्षित था और किताबे पढवाकर सुनने का वडा भारी शौकीन था। उसकी आज्ञा से वहुत-सी सस्कृत पुस्तको का फारसी में अनुवाद किया गया था।

यह भी मार्के की बात है कि उसने हिन्दू विधवाओ के सती होने की प्रथा को बन्द करने का हुक्म निकाला था और युद्ध-वन्दियो को गलाम बनाये जाने की भी मनाही कर दी थी।

चौंसठ साल की उम्र में, करीव पचास वर्ष राज करने के बाद, अक्तूबर, सन १६०५ ई० मे अकबर की मृत्यु हुई। उसकी लाश आगरा के पास सिकन्दरे मे एक खूबसूरत मकबरे मे दफन की हुई है।

अकबर के राज्यकाल मे उत्तर भारत मे और ज्यादातर काशी मे, एक व्यक्ति रहा, जिसका नाम उत्तर प्रदेश के हरएक ग्रामीण की जबान पर है। वहा वह इतना मशहूर है और इतना लोकप्रिय है, जितना अकबर या दूसरा कोई वादशाह नही हो सकता। मेरा मतलब तुलसीदास से है, जिन्होने हिन्दी में राम-चरित-मानस या रामायण लिखी है।

पुर्तगाली पादरियो के लेखो मे से कुछ और उद्धरण यहा देने के लोभ को मैं नही रोक सकता। उनकी राय दरबारी मुसाहिवो की राय से वहुत ज्यादा महत्वपूर्ण है और यह बात भी ध्यान मे रखने की है कि जब अकबर ईसाई न वना तो उसकी तरफ से उनको वहुत निराशा भी हुई थी। फिर भी

वे लिखते है कि "वह दरअसल एक महान बादशाह था, क्योंकि वह जानता था कि अच्छा शासक वही हो सकता है, जिसकी प्रजा उसे एक साथ फरमाबरदारी, सम्मान, प्रेम और भय की दृष्टि से देखे। यह बादशाह सबका प्यारा था, बडे आदमियो पर सख्त, छोटे आदमियो पर मेहरबान, और सब लोगो के साथ, चाहे वे ऊच हो या नीच, पडोसी हो या अजनबी, ईसाई हो या मुसलमान या हिन्दू, न्याय करता था, इसलिए हरएक आदमी यही समझता था कि बादशाह उसीके पक्ष मे है।" जेसुइट लोग आगे कहते है—"अभी वह राजकीय मामलो मे मशगूल है या अपनी प्रजा के लोगो को मुजरा दे रहा है तो दूसरे ही क्षण वह ऊटो के बाल कतरता हुआ या पत्थर फोडता हुआ या लकडी काटता हुआ या लोहा कूटता हुआ नजर आता था, और इनसब कामो को वह इतनी होशियारी से करता था, मानो खुद अपने ही खास पेशे को कर रहा हो।" हालाकि वह एक शक्तिशाली और स्वेच्छाचारी राजा था, लेकिन वह शरीर-श्रम को अपनी शान के खिलाफ नही समझता था, जैसाकि आजकल के कुछ लोग खयाल करते है।

आगे चलकर यह बतलाया गया है कि "वह बहुत थोडा खाना खाता था और साल मे सिर्फ तीन या चार महीने ही मास खाता था। ' ' सोने के लिए वह बडी मुश्किल से रात के तीन घटे निकालता था। ... उसकी स्मरण-शक्ति गजब की थी। उसके हजारो हाथी थे, लेकिन वह सब के नाम जानता था, अपने घोडो के, हिरनो के और कबूतरो तक के नाम भी उसे याद थे।" इस अद्भुत स्मरण-शक्ति के बारे मे यकीन करना मुश्किल है और शायद यह वर्णन कुछ बढाकर भी लिखा गया हो, लेकिन इसमे कोई शक नही कि उसका दिमाग अद्भुत था। "हालाकि वह पढ-लिख नही सकता था, लेकिन अपनी बादशाहत मे होनेवाली तमाम बाते उसे मालूम रहती थी।" और "उसकी ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा" ऐसी थी कि वह "सब बाते एक साथ सीखने की कोशिश करता था, जैसे कोई भूखा आदमी सारे भोजन को एक ही ग्रास मे निगल जाना चाहता हो।"

ऐसा था यह अकबर। लेकिन वह पूरा स्वेच्छाचारी था और हालाकि उसने प्रजा को बहुत-कुछ सुरक्षित कर दिया था और किसानो पर से करों का बोझ भी हलका कर दिया था, लेकिन उसका दिमाग शिक्षा और तालीम

अकबर ने इतनी महनत से डाली थी, वह इस तरह एक-एक पत्थर करके खोद डाली गई और साम्राज्य एकदम भहराकर गिर पडा।

अकबर के बाद जहागीर गद्दी पर बैठा, जो उसकी राजपूत रानी का पुत्र था। उसने कुछ हद तक अपने पिता की परम्परा को जारी रखा, लेकिन शायद उसे सरकारी कामो की अपेक्षा कला तथा चित्रकारी और बागो तथा फूलो मे ज्यादा दिलचस्पी थी। उसके यहा सुन्दर चित्रशाला थी। वह हर साल काश्मीर जाता था और मेरे खयाल से श्रीनगर के पास शालिमार और निशात नाम के मशहूर बाग इसीने लगवाये थे। जहागीर की बेगम—या यो कहो कि उसकी बहुत-सी बेगमो मे से एक—सुन्दरी नूरजहा थी, जिसके हाथो मे परदे के पीछे राज की असली सत्ता थी। ऐतमादुद्दौला की कब्र पर खूबसूरत इमारत जहागीर के ही राज मे बनी थी। जब कभी मै आगरे जाता हू तो शिल्प-कला के इस रत्न को देखने की कोशिश करता हू, ताकि उसकी सुन्दरता से अपनी आखो को तृप्त कर सकू।

जहागीर के बाद उसका पुत्र शाहजहा गद्दी पर बैठा और उसने तीस वर्ष, यानी सन १६२८ से १६५८ ई० तक शासन किया। वह फ्रान्स के चौदहवे लुई का समकालीन था और इसके राज्य मे जहा मुगलो का वैभव चरम सीमा पर पहुच गया, वहा उसकी गिरावट के भी बीज साफ नजर आने लगे थे। बादशाह के बैठने के लिए बहुमूल्य रत्नो से जडा हुआ मशहूर तख्त-ताऊस बनाया गया। फिर आगरे मे जमना के किनारे वह सुन्दरता का स्वप्न ताजमहल बना। यह उसकी प्यारी बेगम मुमताज महल का मकबरा है। शाहजहा ने बहुत-से ऐसे काम किये, जिनसे उसकी कीर्त्ति और प्रतिष्ठा को बट्टा लगता है। वह धर्म के मामले मे असहिष्णु था और जब दक्षिण मे गुजरात मे भयकर अकाल पडा तो उसन अकाल-पीडितो की सहायता के लिए कुछ भी नही किया। उसकी प्रजा की इस कम्बख्ती और गरीबी के मुकाबले मे उसके धन और ऐश्वर्य बडे घृणित दिखाई पडते है। फिर भी पत्थर और सगमरमर मे उसने मनोहरता के जो चमत्कार छोडे है, उनके कारण शायद उसकी बहुत-सी बाते क्षमा की जा सकती है। इसीके समय मे मुगल शिल्प-कला अपनी चोटी पर पहुची थी। ताज के अलावा इसने आगरे की मोती मस्जिद, दिल्ली की विशाल

के जरिये जनता का स्तर ऊचा उठाने की तरफ नही गया। वह युग हर जगह स्वेच्छाचारिता का था, मगर दूसरे स्वेच्छाचारी राजाओ के मुकाबले मे अकबर बादशाह और उसका व्यक्तित्व बडी तेजी से चमकते है।

: २२ :

# अकबर के उत्तराधिकारी

हालाकि अकबर बाबर की तीसरी पीढी मे था, लेकिन भारत मे मुगल राजघराने की नीव डालनेवाला असल मे यही था। चीन मे कुबलाई खा के युआन राजवश की तरह अकबर के बाद मुगल बादशाहो का राजवश भारतीय बन गया। अकबर ने अपने साम्राज्य को मजबूत बनाने के लिए जो महान कार्य किया था, उसका नतीजा यह हुआ कि उसका राजवश उसकी मृत्यु के बाद सौ वर्ष से ज्यादा राज करता रहा।

अकबर के बाद तीन और योग्य बादशाह हुए, लेकिन उनमे कोई असाधारण बात नही थी। जब कोई बादशाह मरता तो उसके पुत्रो मे राजगद्दी के लिए बडी गन्दी छीना-झपटी होती। राजमहलो की साजिशे और उत्तराधिकार की लडाइया होती थी। पुत्रो का पिताओ से विद्रोह, भाइयों का भाइयो से विद्रोह, हत्याए और रिश्तेदारो की आखे फोडी जाना—मतलब यह कि स्वेच्छाचारिता और निरकुश शासन के साथ चलनेवाली तमाम बीभत्स बातें होती थी। शान-शौकत और तडक-भडक तो अतुलनीय थी। शायद मुगल बादशाह उस जमाने के बादशाहो मे सबसे ज्यादा मालदार थे। लेकिन फिर भी कभी-कभी अकाल, महामारी और रोग फैल जाते थे और बेशुमार आदमियो को खा जाते थे, जबकि दूसरी तरफ बादशाही दरबार विलास की मौजे मारता था।

अकबर के समय की धर्मो की सहिष्णुता उसके पुत्र जहागीर के राज्य मे भी जारी रही, लेकिन फिर यह धीरे-धीरे मिटती गई और ईसाइयो और हिन्दुओ पर कुछ अत्याचार होने लगे। बाद मे, औरगजेब के राज मे, मन्दिरो को तोडकर और बदनाम जजिया टैक्स को दुबारा जारी करके हिन्दुओ को जान-बूझकर सताने की कोशिश की गई। साम्राज्य की जो नीव

पर-दिन कमजोर होती जा रही थी और चारो तरफ दुश्मन पैदा हो रहे थे। जजिया के विरोध मे हिन्दुओ की तरफ से जो अर्जी पेश की गई थी, उसमे लिखा था कि यह कर "न्याय का विरोधी है, उसी तरह यह अच्छी नीति से भी असगत है, क्योकि यह देश को निर्धन कर देगा, इसके अलावा यह एक बिल्कुल नई बात है और भारत के नियमो को भग करता है।" साम्राज्य की जो हालत हो रही थी, उसके बारे मे उसमे लिखा था—"जहापनाह के राज मे बहुत-से लोग साम्राज्य के खिलाफ हो गये है, जिसका लाजिमी नतीजा यह होगा कि और भी हिस्से हाथ से निकल जायगे, क्योकि सब जगह बेरोकटोक बरबादी और लूट-खसोट का बाजार गरम हो रहा है। आपकी प्रजा पैरो तले रौदी जाती है, आपके साम्राज्य का हरएक सूबा गरीब होता जा रहा है, आबादी कम हो रही है और कठिनाइया बढती जा रही है।"

आम लोगो मे फैली हुई यह तबाही उन भारी परिवर्तनो की भूमिका थी, जो अगले पचास-साठ वर्षो मे भारत मे होनेवाले थे। औरगजेब की मृत्यु के बाद महान मुगल साम्राज्य का एकदम और पूर्ण पतन इन्ही परिवर्तनो मे से एक था। महान परिवर्त्तनो और महान आन्दोलनो के पीछे हमेशा आर्थिक कारण हुआ करते है। हम देख चुके है कि यूरोप और चीन के बडे-बडे साम्राज्यो के अन्त से पहले और साथ-साथ, आर्थिक पतन हुआ और बाद मे क्रान्ति हुई। यही हाल भारत मे हुआ।

जिस तरह तमाम साम्राज्यो का अन्त हुआ करता है, उसी तरह मुगल साम्राज्य का अन्त उसीकी अन्दरूनी कमजोरियो की वजह से हुआ। वह बिल्कुल छिन्न-भिन्न हो गया। लेकिन हिन्दुओ मे विद्रोह की जो नई चेतना पैदा हो रही थी और जो औरगजेब की नीति की वजह से उफान पर आ गई थी, उसने इस अन्त को लाने की क्रिया मे बहुत सहायता पहुचाई। परन्तु इस तरह की यह धार्मिक हिन्दू राष्ट्रीयता औरगजेब के राज से पहले ही जड पकड चुकी थी और सम्भव है कि कुछ-कुछ इसीकी वजह से औरगजेब इतना द्वेषपूर्ण और असहिष्णु हो गया हो। मराठे, सिख वगैरा इस हिन्दू-जागृति के भाले की नोक थे और मुगल साम्राज्य का तख्ता अन्त मे उन्होने ही उलट दिया। लेकिन इस प्राप्त सम्पत्ति से वे कुछ लाभ न

जामा मस्जिद और दिल्ली के महलो मे दीवाने-आम और दीवान-खास बनवाये। इन इमारतो मे ऊचे दरजे की सादगी है और इनमे से कुछ तो बडी विशाल, सुघड और सुडौल है और उनकी सुन्दरता परियो जैसी लोकोत्तर है।

लेकिन इस लोकोत्तर सौंदर्य के पीछे गरीबी की मारी हुई वह प्रजा थी, जो इन महलो की कीमत चुकाती थी, पर जिसके अधिकाश व्यक्तियो के पास रहने को मिट्टी के झोपडे भी न थे। निरकुश जुल्मी शासन का बोलवाला था और सम्राट या उसके वडे नायब और सूबेदार अगर किसीसे नाखुश हो जाते तो उसे खूखार सजाए दी जाती थी। दरबार को साजिशो का दौर-दौरा था। अकबर की क्षमाशीलता, सहिष्णुता और अच्छी राज्य-व्यवस्था बीती बाते हो गई थी। घटनाए विनाश की ओर ले जा रही थी।

इसके बाद अन्तिम महान मुगल औरगजेब आया। उसने अपने शासन का श्रीगणेश अपने पिता को कैद मे डालकर किया। उसने सन १६५९ ई० से १७०७ ई० तक अडतालीस वर्ष राज्य किया। अपने दादा जहागीर की तरह वह न तो कला और साहित्य से प्रेम करता था और न अपने पिता शाहजहा की तरह शिल्प-कला से। वह कठोर सादगी पालन करनेवाला साधु और कट्टर मुसलमान था, और अपने धर्म के सिवा अन्य किसी धर्म को सहन नही करता था। दरबार की तडक-भडक तो कायम रही, पर अपने व्यक्तिगत जीवन मे औरगजेब सादा-मिजाज और सन्यासी जैसा था। उसने इरादा करके हिन्दुओ को सताने की नीति चलाई। इरादा करके ही उसने अकबर की सबको मित्र बनाने की और एकीकरण की नीति को उलट दिया और जिस नीव पर अभीतक साम्राज्य टिका हुआ था, उसे इस तरह उखाड डाला। उसने हिन्दुओ पर जजिया टैक्स फिर लगा दिया, जहातक हो सका हिन्दुओ से सब ओहदे छीन लिये, जिन राजपूत सरदारो ने अकबर के समय से इस राजवश की सहायता की थी, उन्हीको उसने नाराज करके राजपूतो से लडाई मोल ले ली। उसने हजारो हिन्दू मन्दिरो को तुडवा डाला और इस तरह अनेक सुन्दर पुरानी इमारते धूल मे मिला दी गई। जहा एक ओर दक्षिण मे उसका साम्राज्य बढ रहा था, बीजापुर और गोलकुडा उसके कब्जे मे आ गये थे और दूर दक्षिण से उसे खिराज मिलने लगा था, वहा दूसरी ओर इस साम्राज्य की नीव ढीली होकर दिन-

जब अंग्रेज लोगो ने मुगल दरबार मे आने की कोशिश की तो, पुर्तगालियो को उनसे डाह हुई और उन्होने जहांगीर के कान उनके विरुद्ध भरने मे कोई कसर न उठा रखी। लेकिन इंग्लैंड के जेम्स प्रथम का एलची सर टामस रो सन १६१५ ई० मे किसी तरह जहांगीर के दरबार मे जा पहुचा। उसने सम्राट से बहुत-सी सहूलियते हासिल कर ली और ईस्ट इंडिया कम्पनी के व्यापार की नीव जमा दी। इसी बीच अंग्रेजी बेडे ने भारतीय समुद्र मे पुर्तगाल के बेडे को हरा दिया। इंग्लैंड का सितारा आसमान मे ऊंचा चढ रहा था और पुर्तगाल का सितारा पश्चिम मे डूब रहा था। डचो और अंग्रेजो ने धीरे-धीरे पुर्तगालियो को पूर्वी समुद्रो से बाहर निकाल दिया। सन १६२९ ई० मे हुगली मे शाहजहां और पुर्तगालियो के बीच युद्ध हुआ। पुर्तगाली बाकायदा गुलामो का व्यापार करते थे और लोगो को जबरदस्ती ईसाई बना रहे थे। पुर्तगालियो ने बड़ी बहादुरी से रक्षा की, लेकिन मुगलो ने हुगली पर कब्जा कर लिया। छोटा-सा पुर्तगाल देश बार-बार के इन युद्धो से थक गया। उसने साम्राज्य की होड से पीछा छुड़ाया, लेकिन वह गोआ और दूसरी कई जगहो से चिपका रहा और आज भी इन जगहो पर उसका कब्जा है।

इसी दौरान मे अंग्रेजो ने मद्रास और सूरत के पास, भारत के समुद्र-तट के नगरो मे, कारखाने खोल दिये। मद्रास की नीव भी उन्होने ही सन १६३९ ई० मे डाली। सन १६६२ ई० मे इंग्लैंड के बादशाह चार्ल्स द्वितीय ने पुर्तगाल की कैथराइन आफ ब्रैगैंजा के साथ शादी की और बम्बई का टापू उसे दहेज मे मिला। कुछ दिनो बाद उसने इसे बहुत सस्ते दाम मे ईस्ट इंडिया कम्पनी के हाथ बेच दिया। यह घटना औरंगजेब के राजकाल मे हुई। पुर्तगालियों के ऊपर विजय के नशे मे चूर ईस्ट इंडिया कम्पनी ने यह सोचकर कि मुगल साम्राज्य कमजोर होता जा रहा है, सन १६८५ ई० मे भारत मे जबरदस्ती अपना अधिकार बढाने की कोशिश की, लेकिन उसे नुकसान उठाना पडा। इंग्लैंड से लडाई के जहाज दौडे हुए आये और औरंगजेब के राज्य पर पूर्व मे बंगाल पर और पश्चिम मे सूरत पर हमले किये गए। लेकिन अभी मुगलो मे उनको बुरी तरह हरा देने की ताकत थी। अंग्रेजो ने इससे शिक्षा ली और आगे के लिए वे बहुत सावधान हो गये।

उठा सके। जिस वक्त ये लोग लूट के माल के लिए आपस मे लड रहे थे, अग्रेज चुपचाप और चालाकी के साथ घुस आये और उसे हथिया बैठे।

जब मुगल सम्राट फौज के साथ कूच करते थे तो उनका शाही डेरा किस तरह का होता था ? वह एक बडा जबरदस्त मामला होता था, जिसका घेरा तीस मील और आबादी करीब पाच लाख होती थी। इस आबादी मे सम्राट के साथ चलनेवाली फौज तो होती ही थी, लेकिन उसके अलावा इस चलते-फिरते भारी शहर मे लाखो दूसरे लोग और सैकडो बाजार होते थे। इन्ही चलते-फिरते डेरो मे उर्दू यानी 'लश्कर' की भाषा का विकास हुआ।

मुगल काल के बहुत-से छवि-चित्र अब भी मिलते है, जिनकी चित्रकला बडी बारीक और नफीस है। सम्राटो की तसवीरो की तो एक पूरी चित्र-शाला ही मिलती है। बाबर से लगाकर औरगजेब तक तमाम बादशाहो के व्यक्तित्व को ये तसवीरे बडी खूबी के साथ प्रकट करती है।

मुगल सम्राट दिन मे कम-से-कम दो बार झरोखे मे से लोगो को दर्शन दिया करते थे और अर्जिया लिया करते थे। जब सन १९११ ई० मे अंग्रेज सम्राट जार्ज पचम दिल्ली मे ताजपोशी के दरबार के लिए भारत आये, थे तो उनका भी इसी तरह मुजरा करवाया गया था।

मैंने अभीतक यह नही बतलाया है कि पिछले मुगल बादशाहो का विदेशियो के साथ कैसा ताल्लुक था। अकबर के दरबार मे पुर्तगाली पादरियो पर खास कृपा रहती थीं और यूरोप की दुनिया के साथ अकबर का जो कुछ भी सम्पर्क था, वह इन्हीके जरिये था। अकबर इनको यूरोप की सबसे ताकतवर कोम समझता था, क्योकि समुद्रो पर इनका प्रभुत्व था। अग्रेजो का उस वक्त पता भी न था। अकबर की गोआ लेने की बडी इच्छा थी और उसने उसपर हमला भी किया, मगर सफलता न मिली। मुगल सेना के लोग समुद्र-यात्रा को पसद नही करते थे और जहाजी शक्ति के सामने उनकी दाल न गलती थी। यह एक विचित्र बात है, क्योकि उस जमाने मे पूर्वी बगाल मे जहाज बनाने का काम जोरो से चल रहा था। लेकिन ये जहाज ज्यादातर माल लादने के काम के थे। समुद्र पर मुकाबला करने की यह लाचारी मुगल साम्राज्य के पतन की एक वजह बतलाई जाती है। अब समुद्री शक्तियो का समय आ गया था।

को थर्रा देनेवाला अगर कोई था तो वह इसका पुत्र शिवाजी था, जिसका जन्म सन १६२७ ई० मे हुआ था। वह उन्नीस वर्ष का भी न हुआ था कि उसने लूट-मार शुरू कर दी और पूना के पास पहला किला जीत लिया। वह एक वीर सेनानायक, छापामारो का योग्य नेता और जोखिम उठानेवाला था। उसने बहादुर और मजबूत पहाडियो का एक गिरोह इकट्ठा कर लिया, जो उसपर जान देते थे। इनकी मदद मे उसने बहुत-से किलो पर कब्जा कर लिया और औरगजेब के सेनापतियो को खूब परेशान किया। सन १६६५ ई० मे उसने अचानक सूरत पर धावा बोल दिया, जहा अग्रेजो का कारखाना था, और शहर को लूट लिया। बातो मे आकर वह आगरे मे औरगजेब के दरबार मे भी गया, लेकिन जब उसके साथ एक स्वतन्त्र राजा का-सा बर्ताव नही किया गया तो इसमे उसने अपने गौरव और मान की हानि महसूस की। उसे वहा कैद कर लिया गया, लेकिन वह छूटकर भाग निकला। फिर भी औरगजेब ने उसे राजा का खिताब देकर अपनी तरफ मिलाने की कोशिश की।

लेकिन शिवाजी ने फिर लडाई छेड दी और दक्षिण के मुगल हाकिम तो उससे इतने डर गये कि वे अपनी रक्षा के लिए उसे धन देने लगे। यही वह इतिहास-प्रसिद्ध 'चौथ' यानी लगान का चौथा अश थी, जिसे मराठे लोग जहा जाते, वही वसूल करते थे। इस तरह मराठो की ताकत तो बढती गई और दिल्ली का साम्राज्य कमजोर होता गया। सन १६७४ ई० मे शिवाजी ने रायगढ मे बडे ठाठ-बाट के साथ राजसिहासन ग्रहण किया। सन १६८० ई० मे, अपनी मृत्यु तक वह बराबर विजय-पर-विजय प्राप्त करता रहा।

मराठा देश के केन्द्र पूना शहर मे कुछ समय रहने पर मालूम हो जाता है कि वहा के लोग शिवाजी से कितना प्रेम करते हैं और उसकी कितनी पूजा करते हैं। जिस धार्मिक राष्ट्रीय जागृति का जिक्र मैं अभी कर चुका हू, उसका यह प्रतीक था। आर्थिक सकट और आम जनता की दुर्दशा ने जमीन तैयार कर दी थी, और रामदास और तुकाराम नामक दो मराठा सन्त कवियो ने अपनी कविताओ और भजनो से इसमे खाद डाल दी। इस तरह मराठा लोगो को जागृति और एकता हासिल हुई और ठीक उसी समय उनका नेतृत्व करके विजय प्राप्त करानेवाला एक तेजस्वी सेनानी पैदा हो गया।

औरगजेब की मृत्यु पर भी, जबकि मगल-शक्ति स्पष्ट ही छिन्न-भिन्न हो रही थी, वे बहुत वर्षो तक कोई बडा हमला करने से पहले आगा-पीछा सोचते रहे। सन १६९० ई० मे जाब चार्नोक ने कलकत्ता शहर की नीव डाली। इस तरह मद्रास, बम्बई और कलकत्ता, इन तीनो शहरो की स्थापना अग्रेजो के हाथो से हुई और शुरू-शुरू मे ये शहर अग्रेजो के ही साहसपूर्ण प्रयत्नो से बढे।

अब फ्रान्स ने भी भारत मे कदम रखा। एक फासीसी व्यापारी कम्पनी बनी और सन १६६८ ई० मे उसने सूरत मे और कुछ अन्य जगहो मे कारखाने खोले। कुछ साल बाद उसने पाडिचेरी शहर खरीद लिया, जो पूर्वी तट पर सबसे महत्वपूर्ण व्यापारिक बन्दरगाह बन गया।

सन १७०७ ई० मे करीब नव्वे वर्ष की बडी उम्र मे औरगज़ेब की मृत्यु हुई। उसकी छोडी हुई शानदार सम्पत्ति, यानी भारत, को हथियाने के लिए सघर्ष का सूत्रपात हुआ। एक तो खुद उसीकी अयोग्य सन्तान और उसके कुछ बडे-बडे सूबेदार थे, उधर मराठे और सिख थे, दूसरी तरफ उत्तर-पश्चिम सीमा के पार के लोग दात लगाये हुए थे, और समुद्र पार के दो शक्तिशाली राष्ट्र अग्रेज और फ्रान्सीसी थे। बेचारे भारतवासियो की चिन्ता किसे होती?

: २३ :

# शिवाजी

औरगजेब की मृत्यु के कुछ ही दिन बाद सिखो का विद्रोह हुआ। इसे तो दबा दिया गया, लेकिन सिख लोग अपना बल बढाते रहे और पजाब मे अपनी स्थिति को मजबूत बनाते रहे।

ये सब बगावते तो दिक्कत मे डालनेवाली थी ही, पर मुगल साम्राज्य को असली खतरा दक्षिण-पश्चिम मे मराठो की बढती हुई शक्ति से था। शाहजहा के राज्य मे ही शाहजी भोसले नाम के एक मराठा सरदार ने सर उठाया था। वह पहले तो अहमदनगर की रियासत मे और बाद मे बीजापुर रियासत मे हाकिम रहा था। लेकिन मराठो का गौरव और मुगल साम्राज्य

# इतिहास के महापुरुष

: १ :

## महावीर और बुद्ध

भारत मे महावीर और बुद्ध हुए । महावीर ने आजकल का प्रचलित जैनधर्म चलाया। इनका असली नाम वर्द्धमान था । महावीर तो उन्हे दी गई महानता की एक पदवी है। जैन लोग ज्यादातर पश्चिमी भारत और काठियावाड मे रहते है। दक्षिण, काठियावाड और राजस्थान मे आबू पहाड पर इनके बड़े सुन्दर मदिर है। अहिसा मे इनकी बडी श्रद्धा है और ये ऐसे कामो के बिल्कुल खिलाफ है, जिनसे किसी भी जीव को तकलीफ पहुचे। इस सिलसिले मे यह जानकारी दिलचस्प होगी कि पाइथागोरस कट्टर निरामिष-भोजी था । उसने अपने शिष्यो के लिए भी यह नियम बना दिया था कि कोई मास न खाय ।

गौतम बुद्ध क्षत्रिय थे और एक राजवश के राजकुमार थे । सिद्धार्थ उनका नाम था। उनकी माता का नाम महारानी माया था । प्राचीन जातक-कथा मे लिखा है कि महारानी माया "पूर्ण चन्द्र की तरह उल्लास के साथ पूजने योग्य, पृथ्वी के समान दृढ और स्थिर-निश्चयवाली तथा कमल के समान पवित्र हृदयवाली थी ।"

माता-पिता ने गौतम को हर तरह के ऐश-आराम मे रखा और यह कोशिश की कि दु ख-दर्द और रोग-शोक के दृश्यो से वह बिल्कुल दूर रहे । लेकिन यह सम्भव नही हो सका—और कहा जाता है कि उन्होने एक कगाल, एक रोगी और एक मुर्दा देखा, जिनका उनके हृदय पर बहुत असर हुआ । इसके बाद राजमहल मे उन्हे जरा भी शाति नही रही और ऐश-आराम के सारे साधन, जिनसे वह चारो ओर घिरे रहते थे यहातक कि

: २४ :

# क्लाइव और हेस्टिंग्स

अठारहवी सदी मे यूरोप मे इग्लैड और फ्रान्स की अक्सर मुठभेड होती रहती थी और उनके प्रतिनिधि भारत मे भी एक-दूसरे से लडते थे। लेकिन कभी-कभी यूरोप मे दोनो देशो मे बाकायदा सुलह होने पर भी भारत मे ये लडते रहते थे। दोनो तरफ दुस्साहसी और भले-बुरे का विचार न करनेवाले ले-भग्गू थे, जिनकी सबसे बडी आकाक्षा थी धन और शक्ति प्राप्त करना, इसलिए इनके बीच घोर प्रतियोगिता स्वाभाविक थी। फ्रान्सीसियो मे उस समय सबसे जोरदार आदमी डूप्ले था और अग्रेजो मे से क्लाइव। डूप्ले ने दो रियासतो के आपसी झगडो मे दखल देने का फ़ायदे-मन्द खेल शुरू किया। पहले तो वह अपने शिक्षित सैनिक किराये पर दे देता और बाद मे रियासत हडप जाता। फ्रान्सीसियो का प्रभाव बढने लगा, लेकिन अग्रेजो ने भी बहुत जल्दी उसके तरीको को अपना लिया और उससे भी आगे बढ गये। भूखे गिद्धो की तरह दोनो गडबडी की ताक मे रहते थे और उस वक्त ऐसी गडबडे काफी मिल भी जाती थी। दक्षिण मे जब कभी उत्तराधिकार के बारे मे झगडा होता तो शायद अग्रेज एक दावेदार की ओर फ्रान्सीसी दूसरे की तरफदारी करते दिखाई पडते थे। पन्द्रह साल के लडाई-झगडे (सन् १७४६-१७६१ ई०) के बाद इग्लैड ने फ्रान्स पर विजय पाई। भारत मे अग्रेज दुस्साहसियो को अपने देश की पूरी हिमायत थी, लेकिन डूप्ले और उसके साथियो को फ्रान्स से ऐसी कोई सहायता नही मिली। यह ताज्जुब की बात नही है। भारत मे रहनेवाले अग्रेजो की पीठ पर ब्रिटिश व्यापारी लोग और ईस्ट इडिया कम्पनी के हिस्सेदार दूसरे लोग थे और वे पार्लमेंट और सरकार पर प्रभाव डाल सकते थे, लेकिन फ्रान्सीसियो के ऊपर उस वक्त पन्द्रहवा लुई था, जो मजे के साथ सत्यानाश की ओर दौड रहा था। समुद्र पर अग्रेजो के प्रभुत्व ने भी बहुत मदद पहुचाई। अग्रेज और फ्रान्सीसी दोनो ही भारतीय सैनिको को, जो सिपाही कहलाते थे, फौजी तालीम देते थे और चूकि इन सिपाहियो के पास देशी फौजो से

अच्छे हथियार होते थे और इनका अनुशासन भी उनसे अच्छा होता था, इसलिए इनकी बडी माग रहती थी।

बस, अंग्रेजो ने भारत मे फ्रान्सीसियो को हरा दिया और चन्द्रनगर तथा पाडिचेरी के फ्रान्सीसी शहरो को बिल्कुल तहस-नहस कर डाला। यह बरबादी ऐसी हुई कि दोनो जगह एक भी मकान साबित न बचा। इस समय से फ्रान्सीसियो का भारत की रगभूमि से लोप होना जारी हो गया।

इस जमाने मे अग्रेजो और फ्रान्सीसियो की युद्ध-भूमि सिर्फ भारत तक ही सीमित न थी। यूरोप के अलावा वे कनाडा और दूसरी जगहो मे भी लडे। कनाडा मे भी अग्रेजो की जीत हुई, लेकिन थोडे दिन बाद ही इग्लैड अमरीका के उपनिवेशो से हाथ धो बैठा और फ्रान्स ने इन उपनिवेशो को मदद देकर अग्रेजो से अपना बदला चुकाया।

फ्रान्सीसियो को निकाल बाहर करने के बाद अग्रेजो के रास्ते मे और क्या रुकावटे रह गई थी ? पश्चिम मे, मध्य-भारत मे और कुछ हद तक उत्तर मे भी मराठे तो थे ही। हैदराबाद का निजाम भी था, लेकिन उसकी ज्यादा बिसात नही थी। हा, दक्षिण मे एक नया और ताकतवर प्रतिद्वन्द्वी हैदरअली था। वह पुराने विजयनगर साम्राज्य के बचे-खुचे टुकडो का, जिनसे आजकल की मैसूर रियासत बन गई है, स्वामी बन बैठा। उत्तर मे बगाल सिराजुद्दौला नाम के एक बिल्कुल निकम्मे आदमी के कब्जे मे था। दिल्ली का साम्राज्य तो, जैसाकि हम देख चुके है, एक खयाल-ही-खयाल रह गया था। लेकिन काफी मजेदार बात यह है कि सन १७५६ ई० तक, यानी नादिरशाह के हमले के बहुत बाद तक, जिसने केन्द्रीय सरकार की छाया तक मिटा दी थी, अग्रेज लोग दिल्ली साम्राज्य को अपनी मातहती के चिह्न-रूप विनम्रता से नजराने भेट करते रहे। पाठको को याद होगा कि औरगजेब के समय मे एक बार बगाल मे अग्रेजो ने सिर उठाने की कोशिश की थी, लेकिन वे बुरी तरह परास्त हुए थे और इस पराजय ने उनका दिमाग इतना ठडा कर दिया था कि दुबारा हिम्मत करने के लिए वे बहुत दिन तक आगा-पीछा सोचते रहे, हालाकि उत्तर की हालत तो मानो किसी दिलेर आदमी को खुला न्यौता दे रही थी।

क्लाइव नाम का अग्रेज, जिसको उसके देशवासी एक महान साम्राज्य-

निर्माता के रूप में प्रशसा करते है, ऐसा ही हौसलेवाला आदमी था। अपने व्यक्तित्व और अपने कार्यो मे वह इस वात का उदाहरण पेश करता है कि साम्राज्य किस तरह निर्माण किये जाते है। वह वडा दिलेर, दुस्साहसी और हद दरजे का लालची था और अपने इरादे के सामने वह जालसाजी और धोखेबाजी से भी नही चूकता था। वगाल का नवाव सिराजुद्दौला, जो अग्रेजो की वहुत-सी कार्रवाइयो मे चिढ गया था, अपनी राजधानी मुर्शिदावाद से चढकर आया और उसने कलकत्ते पर कब्जा कर लिया। 'काल-कोठरी' की कथित दुखद घटना, कहते है, इसी समय हुई थी। किस्सा यो वतलाया जाता है कि नवाव के हाकिमो ने वहुत-से अग्रेजो को रात भर एक छोटी-सी दम घोटनेवाली कोठरी मे बन्द कर दिया और उनमे वहुत-से दम घुटकर मर गये। यह हरकत निस्सदेह जगली और वीभत्स है, लेकिन यह सारा किस्सा एक ऐसे आदमी के कथन पर निर्भर है, जो ज्यादा विश्वास के योग्य नही माना जाता। इसलिए वहुत-से लोगो का खयाल है कि यह सारा किस्सा झूठा है।

नवाव ने कलकत्ते पर कब्जा करके जो कामयाबी हासिल की, उसका बदला क्लाइव ने ले लिया, लेकिन इसके लिए इस साम्राज्य-निर्माता ने नवाव के वजीर मीरजाफर को देशद्रोह करने के लिए घूस देकर और एक जाली दस्तावेज, जिसका किस्सा बहुत लम्बा है, बनाकर अपने ही ढग से काम किया। जालसाजी और धोखेबाजी के जरिये रास्ता साफ करके क्लाइव ने सन १७५७ ई० मे नवाव को प्लासी की लडाई मे हरा दिया। जैसी लडाइया हुआ करती है, उनके मुकावले मे यह लडाई छोटी थी और इसे तो क्लाइव ने असल मे अपनी साजिशो से, लडाई शुरू होने के पहले ही करीब-करीब जीत लिया था। लेकिन प्लासी की इस छोटी-सी लडाई का नतीजा वहुत वडा निकला। इसने वगाल के भाग्य का निपटारा कर दिया और भारत मे ब्रिटिश राज्य की शुरुआत अक्सर प्लासी से ही मानी जाती है। छल-कपट और जालसाजी की इस घृणित नीव पर भारत मे ब्रिटिश साम्राज्य का निर्माण हुआ, लेकिन सब साम्राज्यो और साम्राज्य-निर्माताओ का करीब-करीब यही ढग होता है।

भाग्यचक्र के इस आकस्मिक परिवर्तन ने वगाल के दुस्साहसी और लालची

अंग्रेजों का दिमाग आसमान पर चढ़ा दिया। वे बंगाल के स्वामी बन बैठे और उनके हाथ रोकनेवाला कोई न रहा। बस, क्लाइव की सरदारी में उन्होंने बंगाल के खजाने पर हाथ मारना शुरू किया और उसे बिल्कुल खाली कर डाला। क्लाइव ने करीब पच्चीस लाख रुपये नकद खुद अपनी नजर किये और इतने पर भी संतोष न करके कई लाख रुपये साल की आमदनी की एक बड़ी कीमती जागीर भी हड़प कर ली। बाकी के सब अंग्रेज लोगों ने भी इसी तरह अपना 'हर्जाना वसूल किया'। दौलत के लिए बड़ी शर्मनाक छीना-झपटी मची और ईस्ट इंडिया कंपनी के कर्मचारियों का लालच और अविवेक तो सब मर्यादाओं को पार कर गया। अंग्रेज लोग बंगाल के नवाब-निर्माता बन गये और अपनी मर्जी के माफिक नवाबों को बदलने लगे। हर परिवर्तन के साथ घूस और भारी-भारी नजराने चलते थे। शासन की जिम्मेदारी उनपर न थी, यह तो बेचारे बदलते हुए नवाब का काम था। उनका काम तो था जल्दी-से-जल्दी धनवान बन जाना।

कुछ वर्ष बाद, सन १७६४ ई० में अंग्रेजों ने, बक्सर में एक और लड़ाई जीती, जिसका नतीजा यह हुआ कि दिल्ली का नाममात्र का बादशाह भी उनकी शरण में आ गया। उन्होंने उसे पेन्शन दे दी। अब बंगाल और बिहार में अंग्रेजों का अटल प्रभुत्व हो गया। देश से जो अपार धन वे लूट रहे थे, उससे उनको संतोष न हुआ और उन्होंने रुपया बटोरने के नये-नये तरीके निकालने शुरू किये। देश के अन्दरूनी व्यापार से उनको कुछ लेना-देना नहीं था। लेकिन अब वे उन जकातों को, जो देशी माल के व्यापारियों को देनी पड़ती थी, दिये बिना ही व्यापार करने पर उतारू हो गये। भारत की कारीगरी और व्यापार पर अंग्रेजों की यह पहली चोट थी।

उत्तर भारत में अंग्रेजों की स्थिति अब ऐसी हो गई थी कि शक्ति और दौलत तो उनके हाथ में थी, लेकिन जिम्मेदारी उनपर कुछ भी न थी। ईस्ट इंडिया कंपनी के व्यापारी लुटेरों को यह पता लगाने की जरूरत न थी कि ईमानदारी के व्यापार, बेईमानी के व्यापार और खुल्लम-खुल्ला लूट-मार में क्या फर्क है। ये वे दिन थे जब अंग्रेज लोग भारत से मालामाल होकर इंग्लैंड लौटते थे और 'नवाब' कहलाते थे।

राजनैतिक जोखिम और गड़बड़, वर्षा की कमी और अंग्रेजों की हड़पने

की नीति, इन सबका नतीजा यह हुआ कि सन १७७० ई० मे बगाल और बिहार मे एक बडा भयकर अकाल पडा। कहा जाता है कि इन प्रान्तो की एक-तिहाई मे ज्यादा आबादी खत्म हो गई। लाखो आदमी भूख से तडप-तडपकर मर गये। प्रदेश-पर-प्रदेश उजाड हो गये और वहा जगल पैदा हो गये, जिन्होने उपजाऊ खेतो और गावो को ढक दिया। भूख से मरनेवालो की मदद के लिए किसीने कुछ न किया। नवाब के पास न तो ताकत थी, न सत्ता और न प्रवृत्ति। ईस्ट इडिया कम्पनी के पास ताकत और सत्ता तो थी, लेकिन वह कोई जिम्मेदारी या महायता की प्रवृत्ति महसूस नही करती थी। उसका काम तो रुपया इकट्ठा करना और मालगुजारी वसूल करना था और यह काम इतनी काबलियत और खूबी के साथ किया कि भयकर अकाल और एक-तिहाई आबादी के नाश के बावजूद बचे हुए लोगो से मालगुजारी की पूरी रकम वसूल कर ली। असल मे उसने तो मालगुजारी से भी ज्यादा वसूली कर ली और सरकारी रिपोर्ट के अनुसार यह काम उन्होने 'जोर-जबरदस्ती के साथ' किया। महान विपत्ति से बचे हुए भूख से अधमरे लोगो से जो यह जबरदस्ती के साथ और अत्याचारपूर्ण वसूली की गई, उसकी अमानुषिकता को पूरी तरह खयाल मे लाना भी मुश्किल है।

बगाल मे और फ्रान्सीसियो पर विजय-प्राप्ति हो जाने पर भी दक्षिण मे अग्रेजोको बडी दिक्कतो का सामना करना पडा। अन्तिम विजय मिलने से पहले उनको कई बार हारना और अपमानित होना पडा। मैसूर का हैदरअली उनका कट्टर दुश्मन था। वह एक सुयोग्य सेनानायक था और उसने अग्रेजी फौजो को बार-बार हराया। सन १७६९ ई० मे उसने ठेठ मद्रास के किले के नीचे अपने माफिक सन्धि की शर्ते लिखवा ली। दस साल बाद उसे फिर बहुत हद तक सफलता मिली और उसकी मृत्यु के बाद उसका पुत्र टीपू सुल्तान अग्रेजो की राह का काटा बन गया। टीपू को पूरी तौर पर हराने मे मैसूर के दो युद्ध और हुए तथा कई साल लग गये। फिर मौजूदा मैसूर महाराजा का एक पूर्वज अग्रेजो की छत्रछाया मे गद्दी पर बिठलाया गया।

सन १७८२ ई० मे दक्षिण मे मराठो ने भी अग्रेजो को हराया। उत्तर मे ग्वालियर के सिन्धिया का दबदबा था और दिल्ली का बेचारा अभागा सम्राट उसकी मुट्ठी मे था।

इसी अरसे मे इग्लैंड से वारेन हेस्टिंग्स भेजा गया और वह यहा का पहला गवर्नर-जनरल हुआ। ब्रिटिश पार्लमेंट अब भारत के मामलो मे दिलचस्पी लेने लगी। हेस्टिंग्स भारत के अग्रेज शासको मे सबसे बडा माना जाता है, लेकिन उसके शासनकाल मे भी सरकारी इन्तजाम बहुत भ्रष्ट और बुराइयो से भरा हुआ था। हेस्टिंग्स द्वारा बहुत-सा रुपया ऐंठे जाने के कई उदाहरण मशहूर हो चुके है। जब हेस्टिंग्स इग्लैंड लौटा तो भारत के शासन के बारे मे पार्लमेंट के सामने उसपर आरोप लगाया गया, लेकिन बहुत दिन मुकदमा चलने के बाद वह बरी कर दिया गया। इससे पहले पार्लमेंट ने क्लाइव की भी निन्दा की थी और उसने तो सचमुच आत्महत्या ही कर ली। इस तरह इन लोगो की निन्दा करके या इनपर मुकदमे चलाकर इग्लैंड ने अपने अन्त करण को सतुष्ट कर लिया, लेकिन दिल-ही-दिल मे वह इनकी कद्र करता था और इनकी नीति से फायदा उठाने के लिए हरदम तैयार था। क्लाइव और हेस्टिंग्स भले ही निन्दा के पात्र बने, लेकिन ये लोग साम्राज्य-निर्माताओ के नमूने है, और जबतक गुलाम कौमो पर जबरदस्ती साम्राज्य लादे जायगे और उनको निचोडा जायगा, तबतक ऐसे लोग आगे आयेगे और कद्र हासिल करेगे। शोषण के तरीके अलग-अलग युगो में भले ही बदलते रहे, लेकिन भावना वही रहती है।

हेस्टिंग्स ने अग्रेजो के अगूठे के नीचे कठपुतली के समान भारतीय राजाओं को रखने की नीति की शुरुआत की।

भारत मे जैसे-जैसे ब्रिटिश साम्राज्य बढा, वैसे-ही-वैसे मराठो, अफगानो, सिखो, बरमियो आदि से बहुत-से युद्ध हुए। लेकिन इन युद्धो के बारे मे निराली बात यह थी कि हालाकि ये इग्लैंड के फायदे के लिए लडे जाते थे, लेकिन इनका खर्चा भारत के सिर पडता था, इग्लैंड या इग्लैंड के निवासियो पर कोई बोझ नही पडता था। वे तो मजे मे फायदा उठाते रहते थे।

याद रहे कि भारत पर ईस्ट इडिया कपनी, जो एक व्यापारी कपनी थी, राज कर रही थी। ब्रिटिश पार्लमेंट का अधिकार बढता जा रहा था, लेकिन भारत का भाग्य मुख्यतया व्यापारी लुटेरो के एक गिरोह के हाथो मे था। शासन अधिकाश मे व्यापार था और व्यापार अधिकाश मे लूट था। इनके

बीच मे भेद की रेखा बडी बारीक थी। कपनी अपने हिस्सेदारो को जबरदस्त मुनाफे बाटती थी। इसके अलावा भारत मे उसके एजेट अपने लिए अच्छी रकमे बना लेते थे। कपनी के कर्मचारी व्यापारी ठेके भी ले लेते थे और इस तरह बहुत जल्दी बेशुमार दौलत बटोर लेते थे। भारत में कपनी की हुकूमत इस तरह की थी।

: २५ :

# चीन का एक महान मंचू शासक

सन १६५० ई० से आगे के वर्षों मे सारे चीन मे मचू लोगो के कदम मजबूती के साथ जम गये। इस अर्द्ध-विदेशी के मातहत चीन बहुत ताकतवर हो गया और दूसरो पर हमले तक करने लगा। मचू लोग एक नई ताकत लेकर आये, और जहा एक ओर वे चीन के घरू मामलो मे कम-से-कम रुकावटे डालते थे, वहा वे अपनी फालतू ताकत को उत्तर, पश्चिम और दक्षिण की तरफ अपना साम्राज्य बढाने मे खर्च करते थे।

नया राजवश शुरू-शुरू में अक्सर कुछ सुयोग्य शासक पैदा करता है और बाद मे नालायको से उसका खात्मा हो जाता है। इसी तरह मचुओ मे भी कुछ असाधारण योग्यतावाले और निपुण शासक और राजनीतिज्ञ पैदा हुए। काग-ही दूसरा सम्राट हुआ। जब यह गद्दी पर बैठा तो इसकी उम्र सिर्फ आठ वर्ष की थी। इकसठ वर्षो तक वह ऐसे साम्राज्य का बादशाह रहा, जो अपने जमाने की दुनिया के किसी भी साम्राज्य से बडा और ज्यादा आबाद था। लेकिन इतिहास मे उसने जो स्थान प्राप्त किया है, वह न तो इस वजह से है और न उसकी सैनिक योग्यता के कारण। उसका नाम अमर हुआ है उसकी राजनीतिज्ञता और उसकी निराली साहित्यिक प्रवृतियो के कारण। वह सन १६६१ से १७२२ ई० तक सम्राट रहा, यानी चौव्वन वर्ष तक। वह फ्रान्स के महान सम्राट चौदहवे लुई का समकालीन था। इन दोनो ने बहुत ही लम्बे अरसे तक राज्य किया और रिकार्ड कायम करने की इस दौड मे बहत्तर वर्ष राज्य करके लुई ने बाजी मार ली। इन दोनो की तुलना एक दिलचस्प चीज है, लेकिन यह तुलना सब तरह से लुई को ही नीचा

गिरानेवाली है। उसने अपने देश का सत्यानाश कर दिया और भारी कर्ज़ों का बोझ उसके सिर पर लादकर उसे बिल्कुल कमज़ोर बना दिया। धार्मिक मामलो मे भी वह असहिष्णु था। काग-ही कन्फ्यूशस का पक्का अनुयायी था, लेकिन वह दूसरे धर्मो के प्रति उदार था। उसके राज्य मे और असल मे पहले चार मचू सम्राटो के राज्य मे, पुरानी मिग-सस्कृति से कोई छेड-छाड नही की गई। उसका ऊचा आदर्श बना रहा और कुछ हद तक तो उसमे तरक्की भी हुई। उद्योग-धधे, कला-कौशल, साहित्य और शिक्षा उसी तरह फूलते-फलते रहे, जैसे मिग राजाओ के ज़माने मे। चीनी मिट्टी के अद्भुत बरतनो का बनना जारी रहा। रगीन,छपाई का आविष्कार हुआ और ताबे पर खुदाई का काम जेसुइट लोगो से सीखा गया।

मचू राजाओ की नीति-कुशलता और सफलता का भेद इस बात मे था कि वे चीन की सस्कृति के पूरे हामी बन गये थे। काग-ही एक असाधारण और अजीब खिचड़ी था, यानी दर्शन और साहित्य को लगन के साथ अध्ययन करनेवाला, सास्कृतिक प्रवृत्तियो मे डूबा हुआ और साथ ही कुशल सेनानायक, जिसे मल्क जीतने का जरा ज्यादा शौक था। वह साहित्य और कला-कौशल का कोई नया शौकीन या दिखाऊ प्रेमी न था। उसकी गहरी दिलचस्पी और विद्वत्ता का कुछ अन्दाजा उसके साहित्यिक कार्यो मे से नीचे लिखी तीन रचनाओ से लगाया जा सकता है, जो उसकी सलाह से और ज्यादातर खुद उसीकी देखरेख मे तैयार की गई थी।

चीनी भाषा मे चिह्न है, शब्द नही है। काग-ही ने चीनी भाषा का एक कोश तैयार करवाया। यह एक जबरदस्त ग्रथ था, जिसमे चालीस हजार से ज्यादा चिह्न थे और उनके प्रयोग बतलानेवाले कितने ही वाक्याश थे। आजतक भी उसकी जोड का कोई ग्रथ नही है।

काग-ही के उत्साह ने हमे जो एक और रचना दी, वह एक बडा भारी सचित्र विश्वकोश है, जो कई सौ जिल्दो मे पूरा होनेवाला एक अद्भुत ग्रथ है। यह एक पूरा पुस्तकालय था; इसमे हरएक बात का बयान था, हरएक विषय की विवेचना थी। काग-ही की मृत्यु के बाद यह ग्रथ तांबे के उठाऊ छापो से छापा गया।

जिस तीसरे महत्वपूर्ण ग्रथ का मैं यहां जिक्र करूंगा, वह था सारे चीन के साहित्य का निचोड, यानी ऐसा कोश, जिसमे शब्दो और पुस्तको के अशो का सग्रह और मुकाबला किया गया था। यह भी एक असाधारण कार्य था, क्योकि इसके लिए सारे चीनी साहित्य का गहरा अध्ययन जरूरी था। कवियो, इतिहास-लेखको और निबन्ध-लेखको की रचनाओ के पूरे-पूरे उद्धरण इसमें दिये गए थे।

काग-ही ने और भी कितने ही साहित्यिक काम किये, लेकिन किसी को भी प्रभावित करने के लिए ये तीन ही काफी है। इनमे से किसीकी भी टक्कर का ऐसा कोई आधुनिक ग्रथ मेरी निगाह मे नही आता, सिवाय उस बडी 'आक्सफोर्ड इग्लिश डिक्शनरी' के, जिसे बनाने मे कितने ही विद्वानो ने पचास वर्ष से ज्यादा महनत की।

काग-ही ईसाई-धर्म और ईसाई मिशनरियो की तरफ काफी झुका हुआ था। वह विदेशो के साथ व्यापार को प्रोत्साहन देता था और उसने चीन के सारे बन्दरगाह इसके लिए खोल दिये थे। लेकिन उसे जल्दी ही पता लग गया कि यूरोप के लोग बदमाशी करते है और उनपर बन्दिश रखने की जरूरत है। उसे यह शक हो गया और इसके लिए काफी सबूत थे कि मिशनरी लोग चीन को आसानी से जीत लेने के लिए अपने-अपने देश की सरकारो के साम्राज्यवादियो के साथ साजिश कर रहे है। इससे उसे ईसाई-धर्म के प्रति अपना उदार रुख त्याग देना पडा। बाद मे कैण्टन के चीनी फौजी अफसर से जो रिपोर्ट मिली, उससे उसके सदेह मजबूत हो गये। इस रिपोर्ट मे बतलाया गया था कि फिलिपीन और जापान मे यूरोप की सरकारो और उनके सौदागरो और मिशनरियो के बीच मे कितना गहरा ताल्लुक था। इसलिए इस अफसर ने यह सिफारिश की थी कि बाहरी हमलो और विदेशियो की साजिशो से साम्राज्य को बचाने के लिए विदेशी व्यापार पर पाबन्दी लगाई जाय और ईसाई-धर्म के प्रचार को बन्द किया जाय।

इस रिपोर्ट पर चीन की बडी राज्यसभा ने विचार करके उसे मंजूर कर लिया। इसका नतीजा यह हुआ कि सम्राट काग-ही ने उसके अनुसार कार्रवाई करके विदेशी व्यापार और पादरियों के प्रचार पर सख्त पाबन्दी लगाने के हुक्म जारी कर दिये।

साइबेरिया का लम्बा-चौडा मैदान सुदूर-पूर्व के चीन को पश्चिम के रूस से मिलाता है। सुनहरे कबीले के मगोलो को बाहर निकालकर रूस भी एक मजबूत केन्द्रीय राज्य बन गया था और पूर्व मे साइबेरिया के मैदानो की तरफ बढ रहा था। ये दोनो साम्राज्य अब साइबेरिया मे आकर मिलते है।

एशिया मे मगोलो का तेजी के साथ कमजोर होकर नष्ट हो जाना इतिहास की एक अजीब घटना है। मगोल साम्राज्य के नष्ट-भ्रष्ट हो जाने के बाद करीब-करीब दोसौ वर्षो तक एशिया मे होकर जानेवाले खुश्की के रास्ते बन्द रहे। सोलहवी सदी के उत्तरार्द्ध में रूसवालो ने जमीन के रास्ते चीन को राजदूत भेजे। उन्होने मिग सम्राटो से राजनैतिक सबध कायम करने की कोशिश की, लेकिन कामयाब न हुए। थोडे दिन बाद ही यरमक नाम के एक रूसी डाकू ने कज्ज़ाको का एक गिरोह लेकर यूराल पहाड को पार किया और सिबिर के छोटे से राज्य को जीत लिया। साइबेरिया का नाम इसी राज्य के नाम से निकला है।

यह घटना सन १५८१ ई० की है। इस तारीख से रूसी लोग पूर्व की तरफ लगातार आगे ही बढते गये, यहातक कि लगभग पचास वर्ष मे वे प्रशान्त महासागर तक पहुच गये। जल्द ही आमूर की घाटी मे उनकी चीनियो से मुठभेड़ हुई। दोनो मे लडाई हुई, जिसमे रूसवालो की हार हुई। सन १६८९ ई० में दोनो देशो मे नरचिन्स्क की सन्धि हुई। सरहदे तय कर दी गई और व्यापार-सबधी समझौता किया गया। यूरोप के एक देश के साथ चीनवालो की यह पहली सन्धि थी। इस सन्धि से रूस का आगे बढना तो रुक गया, लेकिन कारवानो के व्यापार मे बडी भारी तरक्की हुई। उस जमाने मे महान पीटर रूस का ज़ार था और वह चीन से नजदीकी सबध स्थापित करने का इच्छुक था। उसने काग-ही के पास दो बार राजदूत भेजे और बाद मे चीन के दरबार मे एक स्थायी एलची मुकर्रर कर दिया।

चीन मे तो बहुत पुराने जमाने से ही विदेशी राजदूत आते रहते थे। शायद रोमन सम्राट मार्कस आरेलियस एण्टोनियस ने ईसा के बाद दूसरी सदी मे एक राजदूत-मडल भेजा था। यह भी दिलचस्पी की बात है कि जब सन १६५६ ई० मे हालैंड और रूस के राजदूत-मडल चीन के दरबार

मे पहुचे तो वहा उन्होने महान मुगल के एलची देखे। ये जरूर शाहजहा के भेजे हुए होगे।

## : २६ :

# शियन-लुंग

काग-ही का पोता शियन-लुग चौथा सम्राट हुआ। इसने भी सन १७३६ से १७९६ ई० तक, यानी साठ वर्ष के बहुत ही लम्बे अरसे तक, राज्य किया। दूसरी बातो मे भी यह अपने दादा के ही समान था। इसकी भी खास दिलचस्पी दो बातो मे थी, साहित्यिक प्रवृत्तिया और साम्राज्य का विस्तार। इसने रक्षा करने लायक सब साहित्यिक ग्रथो की बडी भारी खोज करवाई। इनको इकट्ठा किया गया और बडी तफसील के साथ इनका सूची-पत्र बनाया गया। इसके लिए सूची-पत्र शब्द मौजू नही है, क्योकि हरेक ग्रथ के बारे मे जितनी भी बाते मालूम हो सकी वे सब लिखी गई और साथ ही उनपर आलोचनात्मक टिप्पणिया भी जोड दी गई। शाही पुस्तकालय का यह बडा वर्णनात्मक सूची-पत्र चार हिस्सो मे था—कन्फूशस धर्म-सबधी, इतिहास, दर्शन और सामान्य साहित्य। कहा जाता है कि इस जोड का ग्रथ दुनिया मे और कही नही है।

इसी जमाने मे चीनी उपन्यासो, छोटी कहानियो और नाटको का विकास हुआ और ये बडे ऊचे दरजे तक जा पहुचे। यह बात ध्यान देने लायक है कि उन दिनो इग्लैड मे भी उपन्यास का विकास हो रहा था। चीनी के बरतनो और चीनी कला की दूसरी मनोरम चीजो की यूरोप मे माग थी और इनकी तिजारत का तार बध रहा था। चाय के व्यापार की शुरुआत और भी दिलचस्प है। यह प्रथम मचू सम्राट के जमाने मे शुरु हुआ। इग्लैड में चाय शायद चार्ल्स द्वितीय के जमाने मे पहुची थी। अग्रेजी के मशहूर दिनचर्या लिखनेवाले सेम्युएलपेपीज की डायरी मे सन १६६० ई० मे सबसे पहले 'टी' (एक चीनी पेय) पीने के बारे मे एक लेख है। चाय के व्यापार मे बडी जबरदस्त तरक्की हुई और दोसौ वर्ष बाद, सन १८६० ई० मे, अकेले फूचू नाम के चीनी बन्दरगाह से, एक मौसम मे, दस करोड

पौड चाय बाहर भेजी गई। बाद मे दूसरे स्थानो मे भी चाय की खेती होने लगी और अब तो भारत और लका मे भी चाय बहुतायत से पैदा होती है।

शियन-लुग ने मध्य-एशिया मे तुर्किस्तान को जीतकर और तिब्बत पर कब्जा करके अपना साम्राज्य बढ़ाया। कुछ वर्ष बाद, सन १७९० ई० मे, नेपाल के गुरखा लोगो ने तिब्बत पर चढाई की। इसपर शियन-लुग ने न केवल गुरखो को तिब्बत से ही मार भगाया, बल्कि हिमालय के ऊपर होकर नेपाल तक उनका पीछा किया और नेपाल को चीनी-साम्राज्य की मातहत रियासत बनने को मजबूर कर दिया। नेपाल पर यह विजय एक मार्के की सफलता है। चीन की फौज का तिब्बत और फिर हिमालय को पार करना और गुरखो-जैसी लडाकू जाति को, खास उन्हीके घर मे, हरा देना अचम्भे की बात है। सिर्फ बाईस वर्ष बाद, सन १८१४ ई० मे, ऐसी घटना हुई कि भारत के अग्रेजो का नेपाल से झगडा हो गया। उन्होने नेपाल को एक फौज भेजी, लेकिन उसे बडी दिक्कतो का सामना करना पडा, हालाकि उसे हिमालय को पार नही करना पडा था।

शियन-लुग के शासन के आखिरी वर्ष, यानी सन १७९६ ई० मे, जो साम्राज्य सीधा उसके कब्जे मे था उसमे मचूरिया, मगोलिया, तिब्बत और तुर्किस्तान शामिल थे। उसकी सत्ता को माननेवाली मातहत रियासते थी कोरिया, अनाम, स्याम और ब्रह्मदेश। लेकिन देश-विजय और सैनिक कीर्ति की लालसा बडे खर्चीले खेल है। इनम बडा भारी खर्चा होता है और करों का भार बढता जाता है। यह भार सबसे ज्यादा गरीबो पर ही पडता है। उस वक्त आर्थिक परिवर्तन भी हो रहे थे, जिससे असन्तोप की आग और भी बढी। देश-भर मे राज्य के विरुद्ध गुप्त समितिया कायम हो गई। इनमे से कुछके नाम भी मजेदार थे, जैसे श्वेतकमल समिति, दैवी न्याय समिति, श्वेत पख समिति, स्वर्ग और पृथ्वी समिति।

इस दौरान में सब तरह की पाबन्दियो के होते हुए भी विदेशी व्यापार बढ रहा था। इन पाबन्दियो के कारण विदेशी व्यापारियों मे बड़ा भारी असन्तोष था। व्यापार का सबसे बडा हिस्सा ईस्ट इडिया कम्पनी के हाथ मे था, जिसने कैंण्टन तक पैर फैला रखे थे, इसलिए पाबन्दिया सबसे ज्यादा इसीको अखरती थी। यह जमाना वह था जबकि औद्योगिक

उनकी सुन्दर युवा पत्नी, जिसे वह प्यार करते थे, दु:ख-तप्त मानवता की ओर से उनका चित्त न हटा सके। उनके हृदय की यह चिन्ता और इन दु:खो को दूर करने के उपाय खोजने की इच्छा दिन-पर-दिन बढती ही गई। यहा-तक कि वह इस हालत को बरदाश्त न कर सके और अत मे एक रात म चुप-चाप अपने राजमहल और प्रियजनो को छोडकर, जिन प्रश्नो ने उन्हे परेशान कर रखा था, उनके समाधान की खोज मे, इस लम्वी-चौडी दुनिया मे अकेले निकल पडे। इस समाधान की खोज मे उन्हे बहुत वक्त लगा और बहुत तकलीफे उठानी पडी। आखिर बहुत वर्षो वाद, गया मे एक बट-वृक्ष के नीचे बैठे हुए उन्हे 'बुधत्व' प्राप्त हुआ और वह बुद्ध हो गये। जिस पेड के नीचे वह बैठे थे, वह 'बोधि-वृक्ष' के नाम से मशहूर हो गया। प्राचीन काशी की छाया में बसे हुए सारनाथ के, जो उस जमाने मे इतिपत्तन या ऋषिपत्तन कहलाता था, हरिण क्षेत्र मे बुद्ध ने अपने सिद्धातो का प्रचार शुरू किया। उन्होने सद्जीवन का रास्ता वताया। देवताओ के नाम पर की जानेवाली पशु-बलि वगैरह की उन्होने निन्दा की और इस वात पर जोर दिया कि इन वलिदानो के बजाय मनुष्य को क्रोध, द्वेप, ईर्ष्या और वुरे-बुरे विचारो का बलिदान करना चाहिए।

बुद्ध के जन्म के समय, भारत मे पुराना वैदिक धर्म प्रचलित था, लेकिन वह वहुत वदल गया था और अपने ऊचे आदर्शो से नीचे गिर चुका था। ब्राह्मण-पुरोहितो ने तरह-तरह के कर्म-काण्ड, पूजापाठ और अधविश्वास जारी कर दिये थे। जाति का बधन बहुत कडा होता जा रहा था और आम लोग शकुन, मन्त्र-तन्त्र, जादू-टोने और स्यानो से डरते थे। इन तरीको से पुरोहितो ने जनता को अपनी मुट्ठी मे कर रखा था और क्षत्रिय राजाओ की सत्ता को चुनौती देने लगे थे। इस तरह क्षत्रियो और ब्राह्मणो मे सघर्ष चल रहा था। उसी समय बुद्ध एक वहुत बडे लोकप्रिय सुधारक के रूप मे प्रकट हुए और उन्होने पुरोहितो के इन अत्याचारो पर और पुराने वैदिक धर्म मे जो खरावियां आ गई थी, उनपर हमला बोल दिया। उन्होने शुद्ध जीवन विताने और भले काम करने पर जोर दिया और पूजा-पाठ वगैरह का निषेध किया। उन्होने वौद्धधर्म को माननेवाले भिक्खु और भिक्खु-नियो की सस्था 'वौद्ध-सघ' का भी सगठन किया।

भक्ति दिखलाये ताकि तू सदा हमारे राज्य-सिहासन की छत्रछाया मे रहकर अपने देश के लिए आगे को शान्ति और सुख प्राप्त करे।... डर से कापते हुए आज्ञा-पालन कर और लापरवाही मत कर!"

तीसरे जार्ज और उसके मत्रियो ने जब यह उत्तर पढा होगा तो वे जरा सकते मे आ गये होगे। लेकिन जिस ऊची सभ्यता मे स्थिर विश्वास और जिस ताकत के बडप्पन का पता इस जवाब से मिलता है, उसका आधार असल मे टिकाऊ न था। मचू-सरकार मजबूत दिखलाई पड़ती थी और शियन-लुग के राज्य मे वह मजबूत थी भी। लेकिन बदलती हुई आर्थिक व्यवस्था उसकी नीव को खोखली कर रही थी। जिन गुप्त समितियो का मैने जिक्र किया है, वे इसी असन्तोष को बतलानेवाली थी। असली दिक्कत यह थी कि देश को इन नये आर्थिक परिवर्तनो के अनुकूल नही बनाया जा रहा था। दूसरी तरफ पश्चिम के देश इस नई व्यवस्था के अगुआ थे। वे बडी तेजी के साथ आगे बढ रहे थे और दिन-पर-दिन ताकतवर होते जाते थे। सम्राट शियन-लुग ने इग्लैड के जार्ज तृतीय को जो बडा घमंड-भरा जवाब भेजा था, उसके बाद सत्तर साल भी न बीतने पाये थे कि इग्लैड और फ्रान्स ने चीन को नीचा दिखा दिया और उसके घमड को धूल मे मिला दिया।

सन १७९६ ई० मे शियन-लुग की मृत्यु हुई।

## : २७ :

# नेपोलियन

नेपोलियन किस तरह का आदमी था? क्या वह ससार का कोई महान पुरुष था या जैसा एच. जी. वेल्स वगैरह कहते है, वह खाली एक ले-भग्गू और विध्वसक था, जिसने यूरोप को और उसकी सभ्यता को बडा भारी नुकसान पहुचाया? शायद इन दोनो बातो मे अतिशयोक्ति है; या दोनो मे सचाई का कुछ अंश है। हम सबमे अच्छाई और बुराई, महानता और हीनता की अजीब मिलावट होती है। वह भी ऐसा ही एक मिश्रण था, लेकिन इस मिश्रण को बनाने मे ऐसे असाधारण गुण लगे थे, जो हममे से बहुतो मे न मिलेंगे।

क्रान्ति के नाम से पुकारी जानेवाली क्रान्ति शुरू हो रही थी और इग्लैंड इसका अगुआ बन रहा था। भाप का इजन ईजाद हो चुका था और नये तरीको और मशीनो के इस्तेमाल से काम आसान हो रहा था और पैदावार बढ रही थी—खासकर सूती माल की। यह जो फालतू माल बन रहा था, उसका बिकना भी जरूरी था, इसलिए नई-नई मडिया तलाश की जाती थी। इग्लैंड बडा खुशकिस्मत था कि ठीक इसी वक्त भारत उसके कब्जे मे था, जिससे वह यहा अपने माल को जबरदस्ती बिकवाने का इतजाम कर सकता था, जैसा उसने असल मे किया भी। लेकिन वह चीन के व्यापार को भी हथियाना चाहता था।

इसलिए सन १७९२ ई० मे ब्रिटिश सरकार ने लार्ड मैकार्टनी के नेतृत्व मे एक राजदूत मडल पेकिग भेजा। उस समय जार्ज तृतीय इग्लैंड का बादशाह था। शियन-लुग ने उसको दरबार मे मुलाकात के लिए बुलाया और दोनो ओर से नजराने दिये-लिये गये। लेकिन सम्राट ने विदेशी व्यापार पर लगी हुई पुरानी पाबन्दियो मे कुछ भी हेर-फेर करने से इन्कार कर दिया। शियन-लुग ने जो जवाब तीसरे जार्ज को भेजा था, वह बडा मज़ेदार खरीता है और मै उसमे से एक हिस्सा यहा देता हू। उसमे लिखा है

". ...ऐ बादशाह, तू बहुत-से समुद्रो की सीमा से परे रहता है, फिर भी हमारी सभ्यता से कुछ फायदा उठाने की नम्र इच्छा से प्रेरित होकर तूने एक राजदूत-मडल भेजा है, जो बाइज्जत तेरी अर्जी लेकर आया है। ..अपनी भक्ति का सबूत देने के लिए तूने अपने देश की बनी हुई चीजे भी भेट मे भेजी है। मैने तेरी अर्जी को पढा है, उसकी लिखावट की दिली भाषा से मेरे प्रति तेरी आदरपूर्ण विनम्रता प्रकट होती है, जो निहायत काबिले तारीफ है।...

"सारी दुनिया पर राज्य करनेवाला होते भी हुए, मेरी निगाह मे केवल एक ही लक्ष्य है, यानी आदर्श शासन कायम रखना और राज्य के प्रति अपने कर्तव्यो को निभाना, अजीब और बेशकीमत चीजो मे मुझे दिलचस्पी नही है। मुझे तेरे देश की बनी हुई चीजो की जरूरत नही है। ऐ बादशाह, तुझे मुनासिब है कि मेरी भावनाओ का आदर करे और भविष्य मे इससे भी ज्यादा श्रद्धा और राज्य-

के उत्तरी हिस्से पर बडा चतुराईपूर्ण धावा करके उसने सारे यूरोप को चकित कर दिया। फ्रान्स की फौजो मे क्रान्ति का जोश अभी कुछ बाकी था, लेकिन वे फटेहाल थी और उनके पास न ठीक कपडे थे, न जूते, न खाना और न रुपया। वह इस फटेहाल और पावो मे छाले पडे हुए गिरोह को आल्प्स पहाडो के ऊपर होकर ले गया और उनको आशा दिलाई कि इटली के उपजाऊ मैदानो मे पहुचकर उनको खाना और आराम की चीजे सब मिलेगी। दूसरी तरफ इटली के निवासियो को उसने स्वतन्त्रता का आश्वासन दिया, वह उनको जालिमो से छुडाने आ रहा था। लूट-खसोट की आशामयी कल्पना के साथ क्रान्तिवादी शब्दजाल की यह कैसी विचित्र मिलावट थी! इस तरह उसने फ्रान्स और इटली, दोनो के निवासियो की भावनाओ से बडी चालाकी के साथ फायदा उठाया, चूकि वह खुद भी आधा इटालवी था, इसलिए उसका खूब सिक्का जम गया। जैसे-जैसे उसे विजय मिलती गई, उसका रोब बढने लगा और उसकी कीर्ति फैलने लगी। अपनी फौज मे भी वह बहुत-सी बातो मे साधारण सैनिको के साथ तकलीफे उठाता था और खतरे मे उनके साथ रहता था। धावे मे जहा-कही सबसे ज्यादा खतरा होता, वही वह पहुच जाता था। वह हमेशा सच्ची योग्यता की तलाश मे रहता था और इसके लिए वह तुरन्त लडाई के मैदान ही मे इनाम दे देता था। अपने सैनिको के लिए वह पिता—एक बहुत नौजवान पिता—के समान था, जिसे वे प्यार से 'नन्हा कारपोरल' कहते थे और 'तू' करके सम्बोधन करते थे। फिर इसमे ताज्जुब की क्या बात है कि बीस-पच्चीस साल का यह नवयुवक सेनानायक फ्रान्सीसी सैनिको का प्राण प्यारा बन गया?

तमाम उत्तरी इटली को विजय करके और आस्ट्रिया को हराकर और वेनिस के पुराने गणराज्य का अन्त करके और वहा बडी भद्दी साम्राज्यशाही सुलह करके वह एक महान विजयी वीर बनकर पेरिस लौटा। फ्रान्स मे उसका दबदबा कायम होना शुरू हो ही गया था। लेकिन उसने सोचा कि शायद अभी सत्ता हथियाने का अनुकूल समय नही आया है, इसलिए उसने एक फौज लेकर मिस्र जाने का ढोग रचा। युवावस्था से ही पूर्व की यह पुकार उसके दिल मे उठ रही थी और अब वह इसे पूरी कर सकता था। एक विशाल साम्राज्य के सपने उसके दिमाग मे चक्कर लगाने लगे होगे। भूमध्य-

उसमे साहस था और आत्म-विश्वास था, कल्पना थी और आश्चर्यजनक शक्ति तथा घोर महत्वाकाक्षा थी। वह वडा भारी सेनानायक था और पुराने जमाने के सिकन्दर और चगेज जैसे सेनानियो के मुकाबले का युद्ध-कला का उस्ताद था। लेकिन वह कमीना भी था और स्वार्थी तथा घमडी भी। उसके जीवन की प्रधान प्रेरणा किसी आदर्श के पीछे दौडना न थी, बल्कि सिर्फ व्यक्तिगत सत्ता की खोज थी। वह क्रान्ति मे से पैदा हुआ था, फिर भी वह एक विशाल साम्राज्य के सपने देखता था और सिकन्दर की विजय-यात्राए उसके दिमाग मे भर रही थी।

नेपोलियन बोनापार्ट का जन्म सन १७६९ ई० मे कोर्सिका टापू मे हुआ था, जो फ्रान्स के मातहत था। उसकी रगो मे फ्रान्स, कोर्सिका और इटली का मिला हुआ खून था। उसने फ्रास के एक फौजी स्कूल मे तालीम पाई थी और राज्य-क्राति के समय मे वह जैकोबिन क्लब का सदस्य था। लेकिन शायद वह जैकोविन लोगो मे अपना ही उल्लू सीधा करने के लिए शामिल हुआ था, इसलिए नही कि वह उनके आदर्शों मे विश्वास करता था। सन १७९३ ई० मे तोलो मे उसे पहली विजय प्राप्त हुई। इस जगह के धनवान लोगो ने इस डर से कि कही क्राति के राज्य मे उनकी सम्पत्ति न छिन जाय, सचमुच अग्रेज़ो को बुला लिया और बाकी बचा हुआ फ्रान्सीसी जहाजी बेडा उनके हवाले कर दिया। नेपोलियन ने बागियो को पीस डाला और बडी उस्तादी के साथ हमला करके अग्रेजो को हरा दिया। अब उसका सितारा वुलन्द होने लगा और चौवीस साल की उम्र मे वह सेनानायक बन गया। कुछ ही महीनो में जब रोबसपीयरी गिलोतीन पर चढा दिया गया तो यह आफत मे फस गया, क्योकि इसपर रोबसपीयरी के दल का होने का सदेह किया गया। लेकिन सच तो यह है कि जिस दल मे वह शामिल था, उस दल का सिर्फ एक ही सदस्य था, और वह था खुद नेपोलियन। इसके वाद डायरेक्टरी का राज आया और नेपोलियन ने साबित कर दिया कि जैकोबिन होना तो दरकिनार, वह तो प्रति-क्रान्ति का नेता था और बिना किसी हिचकिचाहट के आम जनता को गोलियो से भून सकता था।

सन १७९६ ई० मे वह इटली की फौज का सेनापति हो गया और इटली

के टीपू सुल्तान के साथ कुछ बातचीत चलाई थी लेकिन इनका फल कुछ न निकला, क्योकि उसके पास समुद्री ताकत बिल्कुल न थी।

मिस्र से जब नेपोलियन लौटा तो फ्रान्स की हालत बहुत खराब हो रही थी। डायरेक्टरी बदनाम और अप्रिय हो चुकी थी। इसलिए सभीकी आखे नेपोलियन की तरफ लगी हुई थी। वह तो सत्ता ग्रहण करने के लिए तैयार ही बैठा था। नवम्बर, सन १७९९ ई० मे, अपनी वापसी के एक महीने बाद, नेपोलियन ने अपने भाई ल्यूशन की सहायता से असेम्बली को जबरदस्ती भग कर दिया और उस समय के जिस सविधान के मातहत डायरेक्टरी हुकूमत कर रही थी, उसका अन्त कर दिया। वह ऐसा इसीलिए कर सका कि लोग उसे चाहते थे और उसमे विश्वास रखते थे। अब एक नये सविधान का मसविदा बनाया गया, जिसमें तीन 'कौन्सल' रखे गये, लेकिन इन तीनो मे प्रधान नेपोलियन था, जिसे पूरे अधिकार थे। वह 'प्रथम कौन्सल' कहलाया और दस वर्ष के लिए नियुक्त किया गया।

यह सविधान, जिसमे नेपोलियन को दस साल के लिए प्रथम कौन्सल बनाया गया था, जनता की राय के लिए पेश किया गया और तीस लाख से ज्यादा वोटरो ने उसे लगभग सर्वसम्मति से मान लिया। इस तरह फ्रान्स की जनता ने इस दुराशा मे कि वह उन्हे स्वतत्रता और सुख दिलायेगा, खुद ही सारी सत्ता नेपोलियन की भेट कर दी।

नेपोलियन ने कई तरह से शासन-व्यवस्था मे सादगी और कुशलता पैदा की। वह हर काम मे दखल देता था और छोटी-छोटी बातो को याद रखने की उसमे आश्चर्य-जनक शक्ति थी। अपनी अद्भुत कार्यशक्ति और जानदारी से वह साथियो और मत्रियो को थका डालता था। अकबर की तरह नेपोलियन की भी स्मरण-शक्ति असाधारण थी और उसका दिमाग पूरी तरह व्यवस्थित था। वह अपने बारे मे कहता था—"जब मै किसी बात को दिमाग से हटाना चाहता हू तो उसकी दराज बन्द कर देता हू और दूसरी दराज खोल देता हू। इन दराजो मे रखी हुई चीजे कभी मिलने नही पाती और न वे मुझे परेशान करती है। मै जब सोना चाहता हू, तब दराज बन्द कर देता हू और सो जाता हू।" वास्तव मे यह देखा गया था कि लडाई होती रहती थी और वह जमीन पर लेट जाता था और आधा घटे के लगभग सो

सागर मे अग्रेजी जहाजी बेडे से किसी तरह वाल-बाल बचकर वह सिकन्द-रिया जा पहुचा ।

मिस्र उन दिनो तुर्की के उस्मानी साम्राज्य का हिस्सा था, लेकिन इस साम्राज्य का पतन हो चुका था और दरअसल मिस्र मे ममलूक लोग राज्य कर रहे थे, जो सिर्फ नाम के लिए तुर्की के सुरतान के मातहत थे। जल्द ही नेपोलियन ने 'पिरैमिडो की लडाई' जीती । वह नाटकीय मुद्राए बहुत पसन्द करता था । एक पिरैमिड के नीचे अपनी फौज के सामने घोडे पर खडे होकर उसने कहा—"सिपाहियो, देखो, चालीस सदिया तुम्हारे ऊपर निगाह डाल रही है ।"

नेपोलियन थल-युद्ध का उस्ताद था और वह जीतता ही गया, लेकिन समुद्र पर उसका बस न चला । वह जल-युद्ध लडना नही जानता था और शायद उसके पास योग्य समुद्री सेनानायक भी न थे । ठीक उन्ही दिनो भूमध्यसागर मे इग्लैण्ड के जहाज़ी बेडे का नायक एक असाधारण प्रतिभा-वाला व्यक्ति था । वह होरेशियो नेल्सन था । नेल्सन बडी हिम्मत करके एक दिन ठेठ बन्दरगाह मे घुस आया और नील नदी की लडाई मे उसने फ्रान्स के जहाजी बेडे को नष्ट कर दिया । इस तरह परदेस मे नेपोलियन फ्रान्स से बिछुड गया । वह तो किसी तरह चुपचाप वचकर निकल भागा और फ्रान्स पहुच गया, लेकिन ऐसा करके उसने अपनी 'पूर्व की फौज' को कुरबान कर दिया ।

विजयो और कुछ सैनिक कीर्ति के बावजूद पूर्वी देशो का यह जबरदस्त धावा असफल रहा, लेकिन दिलचस्पी की यह बात ध्यान मे रखने लायक है कि नेपोलियन अपने साथ पडितो, विद्वानो और आचार्यों की भीड-की-भीड, बहुत-सी किताबो और तरह-तरह के औजारो के साथ, मिस्र देश को ले गया था । इस मडली मे रोज चर्चाए होती थी, जिनमे नेपोलियन भी बराबरी की हैसियत से भाग लेता था । इन पडितो ने वैज्ञानिक अन्वेषण का बहुत-सा अच्छा काम किया । यह भी दिलचस्प बात है कि स्वेज पर नहर काटने की एक तजवीज मे नेपोलियन ने भी बहुत दिलचस्पी दिखलाई थी ।

जब नेपोलियन मिस्र मे था, उसन ईरान के शाह और दक्षिण भारत

बहुत दिनो से नाम-मात्र के लिए रह गया था, अब बिल्कुल खत्म हो गया।

यूरोप की बडी शक्तियो मे से सिर्फ इग्लैण्ड ही आफत से बच गया। इग्लैड को उसी समुद्र ने बचाया, जो नेपालियन के लिए हमेशा एक रहस्य रहा, और समुद्र से सुरक्षित रहने के कारण इग्लैण्ड उसका सबसे जबरदस्त और कट्टर दुश्मन बन गया। मै बतला चुका हू कि किस तरह नेपोलियन की जीवन-यात्रा के शुरू मे ही नेल्सन ने नील नदी की लडाई मे उसके जहाजी बेडे को नष्ट कर दिया था। २१ अक्तूबर सन १८०५ ई० को स्पेन के दक्षिणी किनारे पर टैफलगर अन्तरीप के पास नेल्सन ने फ्रान्स और स्पेन के सम्मिलित जहाजी बेडो पर और भी जबरदस्त विजय प्राप्त की। नेल्सन तो विजय की घडी मे मारा गया, लेकिन इस विजय ने, जिसे अग्रेज लोग बडे अभिमान से याद करते है और जिसका स्मारक लदन के ट्रैफलगर स्क्वायर मे नेल्सन-स्तम्भ के रूप मे बना हुआ है, नेपोलियन के इग्लैण्ड पर धावा बोलने के स्वप्न को नष्ट कर दिया।

नेपोलियन ने यूरोप महाद्वीप के सारे बन्दरगाहो को इग्लैण्ड के लिए रोक देने की आज्ञा निकालकर इसका बदला लिया। उससे किसी तरह के भी यातायात सम्बन्ध रखने की मनाही कर दी गई और 'बनियो के राष्ट्र' इग्लैड को इस तरह काबू मे लाने की सोची गई। उधर इग्लैण्ड न इन बन्दरगाहो की नाकाबन्दी कर दी और नेपोलियन के साम्राज्य तथा अमरीका आदि दूसरे देशो के बीच होनेवाले व्यापार को रोक दिया। यूरोप मे लगातार साजिशे करके और नेपोलियन के शत्रुओ तथा उदासीन राज्यो मे दिल खोलकर सोना बाटकर इग्लैण्ड ने नेपोलियन से लडाई लडी। इस काम मे उसे यूरोप के कई बडे-बड़े दौलतमन्द घरानो से, खासकर राथ्सचाइल्ड-घराने से, बडी सहायता मिली।

इग्लैड ने नेपोलियन के विरुद्ध एक और भी तरीका काम म लिया, जो प्रचार का था। सग्राम का यह नया ही ढग था, लेकिन तबसे यह बहुत प्रचलित हो गया है। फ्रान्स के, और खासकर नेपोलियन के विरुद्ध अखबारो मे, आन्दोलन शुरू किया गया। तरह-तरह के लेख, पुस्तिकाए, समाचार-पत्रिकाए, नये सम्राट का मखौल उडानेवाले कार्टून और झठी बातों से

लेता था, और उसके बाद उठकर फिर लम्बे समय के लिए एकाग्र होकर काम में लग जाता था।

वह दस वर्ष के लिए प्रथम कौन्सल बनाया गया था। अधिकार के जीने की दूसरी सीढी तीन साल बाद सन १८०२ ई० मे आई, जब उसने अपने-आपको जीवनभर के लिए कौन्सल बनवा लिया और उसके अधिकार बढ गये। गणतत्र का अन्त हो चुका था और वह सब तरह से एकछत्र शासक बन गया था, शासक की उपाधि भले ही उसे न थी। और जब यह अनिवार्य हो गया तो उसने सन १८०४ ई० मे जनता की राय लेकर अपने-आप को सम्राट घोषित कर दिया। फ्रान्स मे वह ही सर्वेसर्वा था, लेकिन फिर भी इसमे और पुराने जमाने के स्वेच्छाचारी राजाओ मे बहुत अन्तर था। वह परम्परा और दैवी अधिकार को अपनी सत्ता का आधार नही बना सकता था। उसे तो अपनी सत्ता अपनी कार्यकुशलता और जनता मे अपनी लोकप्रियता के आधार पर रखनी पडी थी और वह भी खासकर किसानो मे लोकप्रियता के आधार पर, जो हमेशा से उसके सबसे अधिक वफादार समर्थक रहे थे, क्योकि वे जानते थे कि इसीने उनकी जमीनो को छिनने नही दिया था। लेकिन लगभग निरतर चलनेवाले युद्ध के लिए अपने पुत्रो को देते-देते अन्त मे किसान लोग भी तग आ गये। जब यह सहारा छिन गया तो जो विशाल भवन नेपोलियन ने खडा किया था, वह गिरने लगा।

दस वर्ष तक वह सम्राट रहा और इन वर्षो मे वह प्रभावोत्पादक सैनिक कार्रवाइया करता हुआ और स्मरणीय लडाइया जीतता हुआ यूरोप के सारे महाद्वीप मे दौडता फिरा। सारा यूरोप उसके नाम से थर्राता था और उसका ऐसा दबदबा था, जैसा उसके पहले और बाद मे आजतक किसीका नही हुआ। मारेंगो (यह लडाई सन १८०० ई० मे हुई, जब उसने अपनी फौज के साथ स्वीजरलैंड की बर्फ से ढकी हुई सेंट बर्नार्ड की घाटी को पार किया) उल्म, आस्तरलित्ज़, येना, ईल्, फ्रीडलैंड, वैग्रम वगैरह उसकी जीती हुई मशहूर लडाइयो के नाम है। आस्ट्रिया, प्रशिया, रूस वगैरह सब उसके सामने भर-भराकर गिर पडे। स्पेन, इटली, निदरलैंड्स, राइन का कान्फडरेशन कहलानेवाला जर्मनी का बडा हिस्सा, पोलैंड, जो वारसा की डची कहलाता था, ये सब राज्य उसके मातहत हो गये। पुराना पवित्र रोमन साम्राज्य, जो

कुछ दिनों तक धर्म के रूप मे बौद्धधर्म का प्रचार भारत मे बहुत नही हुआ। आगे चलकर यह खूब फैला और फिर भारत मे एक अलग धर्म के रूप मे यह करीब-करीब मिट-सा गया। जहा लंका से लेकर चीन तक दूर-दूर के मुल्को मे यह धर्म सर्वोपरि हो गया, वहा अपनी जन्मभूमि भारत मे यह फिर ब्राह्मणधर्म या हिन्दूधर्म मे समा गया। लेकिन ब्राह्मणधर्म पर इसका बहुत बडा असर पडा और इसने हिन्दूधर्म मे से बहुत-से अन्धविश्वास और पाखंड हटा दिये।

: २ :

# सुकरात

सुकरात तत्वज्ञानी था और हमेशा सत्य की खोज मे रहता था। उसके लिए सच्चा ज्ञान ही एक ऐसी चीज थी, जिसे वह प्राप्त करने योग्य समझता था। वह अपने मित्रो और जान-पहचान के लोगो से अक्सर कठिन समस्याओ पर चर्चाए करता रहता था, ताकि बहस-मुबाहिसे मे शायद कोई सचाई निकल आये। उसके कई शिष्य थे, जिनमे सबसे महान अफलातून था। अफलातून ने कई कितावे लिखी है, जो आज भी मिलती है। इन्ही किताबो से हमे सुकरात का बहुत-कुछ हाल मालूम होता है। यह तो साफ है कि सरकारे ऐसे आदमियो को पसन्द नही किया करती, जो हमेशा नई-नई खोज मे लगे रहते हो। वे सचाई की तलाश पसन्द नही करती। एथेन्स की सरकार को—यह पेरिल्कीज के जमाने के थोडे दिन बाद की बात है—सुकरात का रग-ढग पसन्द नही आया। उसपर मुकदमा चलाया गया और उसे मौत की सजा दी गई। सरकार ने उससे कहा कि अगर वह लोगो से बहस-मुबाहिसा करना छोड दे और अपनी चाल-ढाल बदल दे तो उसे छोड दिया जा सकता है। लेकिन सुकरात ने ऐसा करने से इन्कार कर दिया और जिस बात को अपना फर्ज समझता था, उसे छोडने के बजाय उस जहर के प्याले को अच्छा समझा, जिसे पीकर वह मर गया। मरते वक्त उसने अपने पर इल्जाम लगानेवालो, न्यायाधीशो और एथेन्सवासियो को सम्बोधित करते हुए कहा

भरे हुए नकली संस्मरण लंदन से प्रकाशित होते थे और चोरी-छिपे फ्रान्स मे दाखिल कर दिये जाते थे।

नेपोलियन जहा-कही गया, वही वह अपने साथ फ्रान्स की राज्यक्रांति की कुछ बाते लेता गया और और जिन देशो को उसने जीता, वहा के लोग उसके आने से नाखुश नही हुए। वे लोग अपने निकम्मे और अर्द्ध-सामन्ती शासको से तग आ गये थे, जो उनकी गरदन पर सवार थे। इससे नेपोलियन को बहुत सहायता मिली और जैसे-जैसे वह आगे बढता गया, सामतशाही उसके सामने टूटकर गिरने लगी। जर्मनी म तो खासतौर पर सामतशाही का सफाया हो गया। स्पेन मे उसने इनक्विजिशन का अन्त कर दिया। लेकिन जिस राष्ट्रीयता की भावना को उसने अनजान मे उत्तेजित किया था, वही उसके विरुद्ध उठ खडी हुई और अन्त मे इसीने उसे परास्त कर दिया। वह पुराने बादशाहो और सम्राटो को नीचा दिखा सकता था, लेकिन अपने विरुद्ध भडके हुए सारे राष्ट्र को नही। इस तरह स्पेन के लोग उसके विरुद्ध उठ खड़े हुए और वर्षो तक उसकी शक्ति और उसके साधनो को निचोड़ते रहे। जर्मन लोग भी बैरन वान स्टीन नाम के एक महान देशभक्त के नेतृत्व मे सगठित हो गये। यह नेपोलियन का घोर शत्रु हो गया। जर्मनी मे स्वाधीनता का सग्राम हुआ। इस तरह राष्ट्रीयता, जिसे खुद नेपोलियन ने ही जगाया था, समुद्री शक्ति से मेल करके उसके पतन का कारण बन गई। लेकिन किसी भी सूरत मे यह मुश्किल था कि सारा यूरोप एक तानाशाह को सहन कर लेता। या शायद खुद नेपोलियन की ही बात सही थी, जो उसने बाद मे कही थी—"मेरे पतन का दोष मेरे सिवा किसीपर नही है। मै खुद ही अपना सबसे बडा दुश्मन रहा हू और अपने विनाशकारी दुर्भाग्य का कारण हुआ हू।"

इस अद्‌भुत प्रतिभावाले व्यक्ति में कमजोरिया भी बहुत असाधारण थी। उसमे हमेशा कुछ नई नवाबी का रग रहा और उसके दिल मे यह अजीब लालसा रही कि पुराने और निकम्मे बादशाह और सम्राट उससे बराबरी का बर्ताव करे। उसने अपने भाई-बहनो को बडे भद्दे तौर पर बढाया, हालाकि वे बिल्कुल नालायक थे। ल्यूशन ही एक लायक भाई था, जिसने सन १७९९ में सकट की घडी मे उसकी सहायता की थी, लेकिन जो बाद में खटपट हो जाने के कारण इटली मे जाकर बस गया। दूसरे भाइयो को, जो घमडी

और बेवकूफ थे, नेपोलियन ने कही का राजा और कही का शासक बना दिया। जब उसपर मुसीबत पडी, तो इनमे से करीब-करीब सबने उसे धोखा दिया और उससे किनाराकशी की। नेपोलियन को अपना राजवंश स्थापित करने की भी बडी उत्कण्ठा थी। अपने जीवन के आरम्भ मे, इटली पर चढाई करने और प्रसिद्ध होने से भी पहले, उसने जोसेफाइन दि बोहार्नाइ नामक एक सुन्दर, लेकिन चचल औरत से विवाह कर लिया था। जब उससे कोई सतान न हुई तो नेपोलियन को बडी भारी निराशा हुई, क्योंकि उसके दिल मे राजवंश चलाने की लालसा थी। बस उसने जोसेफाइन को तलाक देकर दूसरी स्त्री से विवाह करने का इरादा कर लिया, हालाकि वह जोसेफाइन से प्रेम करता था। उसकी इच्छा रूस की एक ग्राड डचेस से विवाह करने की थी, लेकिन जार ने अनुमति नही दी। नेपोलियन भले ही लगभग सारे यूरोप का स्वामी हो, लेकिन रूस के शाही खान्दान मे विवाह की आकाक्षा करना जार की राय मे उसके लिए कुछ गुस्ताखी की बात थी। तब नेपोलियन ने किसी तरह आस्ट्रिया के हैप्सबर्ग सम्राट को मजबूर किया कि वह अपनी पुत्री मेरी लुइसी का विवाह उसके साथ करदे। उसकी कोख से एक लडका पैदा हुआ, लेकिन वह मूढ और मूर्ख थी और नेपोलियन को बिल्कुल नही चाहती थी। नेपोलियन के लिए वह बहुत बुरी पत्नी साबित हुई। जब नेपोलियन पर आफत आई तो वह उसे छोड़कर भाग गई और उसे बिल्कुल ही भूल गई।

बड़े आश्चर्य की बात है कि यह व्यक्ति, जो कई बातो मे अपनी पीढी के लोगो से बहुत ऊचा था, बादशाहत के पुराने विचारो मे पैदा होनेवाली थोथी तडक-भड़क का शिकार हो गया। फिर भी बहुत बार वह क्रांति की-सी बाते करता था और इन निकम्मे बादशाहो का मखौल उडाया करता था। उसने क्रान्ति की और नई व्यवस्था की जान-बूझकर उपेक्षा कर दी थी। पुरानी व्यवस्था न तो उसके अनुकूल थी और न उसे अपनाने के लिए तैयार थी। इसलिए इन दोनो के बीच मे उसका पतन हो गया।

धीरे-धीरे सैनिक कीर्ति के इस जीवन-सग्राम का दुखद अन्त होता है, जो अनिवार्य था। खुद उसके ही कुछ मत्री लोग दगाबाज हो जाते है और उसके विरुद्ध साजिशे करते है, तेलीरेंद रूस के जार से मिलकर साजिश करना

है और फोशे इग्लैण्ड से मिलकर। नेपोलियन उनकी दगाबाजी पकड लेता है, लेकिन फिर भी, ताज्जुब है, उनकी सिर्फ लानत-मलामत करके उन्हे मत्रियो के पद पर रहने देता है। बर्नादोत नामक उसका एक सेनानायक उसके विरुद्ध हो जाता है और उसका कट्टर दुश्मन बन जाता है। माता और भाई ल्यूशन के सिवाय उसके कुटुम्ब के सारे लोग बदमाशिया करते चले जाते है और अक्सर उसकी जड भी काटते रहते है। फ्रान्स मे भी असतोष बढता चला जाता है और उसकी तानाशाही बडी कठोर और निर्मम हो जाती है, और कितने ही लोग बिना मुकदमे के जेल मे डाल दिये जाते है। उसका सितारा निश्चय ही नीचे गिरता हुआ मालूम होता है और तालाब को सूखता देखकर बहुत-सी मछलिया उसे छोड जाती है। आयु अधिक न होने पर भी उसकी शारीरिक और मानसिक शक्तिया कमजोर होती जाती है। ठेठ लडाई के बीच मे कभी-कभी उसके पेट मे वायु-गोले का दर्द उठ खडा होता है। सत्ता भी उसे भ्रष्ट कर देती है। पुरानी चतुराई तो उसमे मौजूद है, लेकिन अब उसकी चाल भारी पड गई है। वह अक्सर आगा-पीछा सोचने मे रह जाता है और वहम करने लगता है। उसकी फौजे भी पहले से ज्यादा भारी-भरकम हो गई है।

सन १८१२ ई० मे एक जबरदस्त फौज के साथ वह रूस पर चढाई करने के लिए रवाना होता है। वह रूसवालो को हरा देता है और बिना अधिक विरोध के आगे बढता चला जाता है। रूस की फौजे लगातार पीछे हटती चली जाती है और लडने के लिए सामने नही आती। नेपोलियन की 'ग्राण्ड आर्मी' उनकी असफल तलाश करती-करती अन्त मे मास्को पहुच जाती है। जार तो घुटने टेकने के लिए तैयार हो जाता है, लेकिन दो व्यक्ति, एक तो फ्रान्सीसी बर्नादोत, नेपोलियन का पुराना सहयोगी और सेनानायक, तथा दूसरा जर्मन राष्ट्रवादियो का नेता बैरन वान स्टीन, जिसे नेपोलियन ने बागी घोषित कर दिया था, जार को ऐसा करने से रोक देते है। रूसी लोग दुश्मन को धुए से भगा देने के लिए अपने प्यारे मास्को नगर मे ही आग लगा देते है।

शीतकाल का आरम्भ है। नेपोलियन जलते हुए मास्को को छोडकर फ्रान्स लौटने का निश्चय करता है। 'ग्राण्ड आर्मी' बर्फ मे होकर थकी-मादी

धीरे-धीरे वापस घिसटती है। उधर रूस के कज्जाक लोग, जो बराबर उसके दोनो ओर तथा पीछे-पीछे लगे हुए है, उसपर हमले करते है, छापे मारते है और पिछड जानेवालो को मौत के घाट उतार देते है। कडी सरदी और कज्जाक लोग, दोनो मिलकर हजारो जाने ले लेते है और 'ग्राण्ड आर्मी' भूतो का-सा जलूस बन जाती है, जिसमे सब लोग पैदल-पैदल, फटेहाल, पावो मे छाले पडे हुए और ठड से गले हुए, थकावट से लड़खडाते हुए चलते है। अपने गोलन्दाजो के साथ नेपोलियन को भी पैदल चलना पडता है। यह यात्रा बडी भयकर और हृदय-विदारक साबित होती है और वह जबरदस्त फौज कम होती-होती अन्त मे करीब-करीब लुप्त हो जाती है। सिर्फ मुट्ठी भर लोग वापस लौट पाते है।

रूस की यह चढाई जबरदस्त चोट साबित हुई। इसने फ्रान्स की जन-शक्ति को खत्म कर दिया और उससे भी ज्यादा यह हुआ कि इससे नेपोलियन पर बुढापा-सा छा गया, वह चिन्ताग्रस्त हो गया और लडाई-झगडो से ऊब गया। लेकिन फिर भी उसे चैन से नही बैठने दिया गया। शत्रुओ ने उसे घेर लिया और हालाकि अभीतक वह विजये प्राप्त करनेवाला चतुर सेनानायक था, लेकिन फदा अब धीरे-धीरे कसने लगा। तेलीरेद की साजिशे बढने लगी और नेपोलियन के कुछ विश्वासपात्र सेनाधीश तक भी उसके विरुद्ध हो गये। अन्त मे उकताकर और तग आकर नेपोलियन ने अप्रैल, सन १८१४ ई० मे राजगद्दी छोड दी।

नेपोलियन के रास्ते से हटते ही यूरोप के शक्तिशाली राष्ट्रो की एक बडी काग्रेस यूरोप का नया नकशा तय करने के लिए वियना मे की गई। नेपोलियन को भूमध्य सागर के एक छोटे-से टापू ऐल्बा मे भेज दिया गया। बोर्बन राज्यवश का एक और लुई, जो गिलोतीन पर मारे गये लुई का भाई था, जहा कही छिपा पडा था, वही से निकालकर लाया गया और अठारहवे लुई के नाम से फ्रान्स की राजगद्दी पर बैठाया गया। इस तरह बोर्बन लोग फिर वापस आ गये और उनके साथ पुरानी जुल्मशाही भी वापस आ गई। बैस्तील के पतन से लगाकर अबतक पच्चीस वर्ष के वीरतापूर्ण कारनामो का बस यह अत हुआ! वियना मे बादशाह लोग और उनके मंत्री लोग आपस मे तर्क-वितर्क कर रहे थे और लड-झगड रहे थे और जब इन

वातो से वे फुरसत पाते तो मौज उडाते थे । उन्होने अव आराम की सास ली । एक वडा भारी आतक दूर हो गया था और वे लोग खुलकर सास ले सकते थे। नेपोलियन के साथ विश्वासघात करनेवाला देशद्रोही तेलीरेंद बादशाहो और मन्त्रियो की इस भीड मे वडा लोकप्रिय था और काग्रेस मे उसने बडा महत्वपूर्ण भाग लिया ।

एक वर्ष से कम समय मे ही नेपोलियन तो ऐल्वा से तग आ गया और फ्रान्स वोर्वन लोगो से । वह किसी तरह एक छोटी-सी नाव मे वहा से भाग निकला और २६ फरवरी, सन १८१५ ई० को शायद अकेला ही रिवियरा पर केन्स नामक जगह मे किनारे पर आ लगा । किसानो ने वडे उत्साह से उसका स्वागत किया । उसके विरुद्ध भेजी गई फौजो ने जब अपने पुराने सेनापति 'नन्हे कार्पोरल' को देखा तो वे 'सम्राट जिन्दावाद' का घोष करके उससे मिल गई । वस, वह वडे विजयोल्लास के साथ पेरिस पहुचा और वोर्वन वादशाह वहा से तुरन्त भाग गया । लेकिन यूरोप की वाकी सब राजधानियो मे आतक और घवडाहट फैल गई । वियना मे, जहा काग्रेस अभी तक लस्टम-पस्टम चल रही थी, नाच-गान और दावते एकदम खत्म हो गई । इस सर्वग्राही भय के कारण सारे वादशाह और मत्री अपने आपसी झगडे-टटो को भूल गये और उनका सारा ध्यान नेपोलियन को दुवारा फिर कुचल डालने के एक ही काम की तरफ लग गया । वस, सारा यूरोप हथियार लेकर उसके विरुद्ध आ डटा । लेकिन फ्रान्स तो लडाइयो से उकता गया था । और नेपोलियत, जो अभी छियालीस वर्ष का ही था, और जिसे उसकी स्त्री मेरी लुईसी तक छोड भागी थी, अव एक थका हुआ वृद्ध था । कुछ लडाइयो म उसकी जीत हुई, लेकिन अन्त मे फ्रान्स मे उतरने के ठीक सौ दिन बाद, वेलिगटन और व्लूशर के मातहत अग्रेजी और प्रशियाई फौजो ने व्रसेल्स नगर के पास वाटरलू मे उसे हरा दिया । इसलिए उसकी वापसी का यह समय 'सौ दिन' कहलाता है । वाटरलू की लडाई मे दोनो तरफ करारा मुकावला था और यह वतलाना कठिन था कि जीत किसकी होगी । नेपोलियन की किस्मत वहुत वुरी निकली । उसके लिए इस लडाई मे विजय प्राप्त करना वहुत सम्भव था, लेकिन अगर वह जीत भी जाता तो कुछ दिन वाद उसे यूरोप की सम्मिलित शक्ति के आगे घुटने टेकने पडते । अव चूकि वह हार चुका था,

यह आश्चर्य की बात है कि नेपोलियन के साथ कैसा कमीना वर्ताव किया गया। लेकिन सेंट हेलेना का गवर्नर तो सिर्फ अपनी सरकार का औजार था, और मालूम होता है कि अंग्रेज सरकार की जान-बूझकर यह नीति थी कि इस बन्दी के साथ बुरा बर्ताव किया जाय और उसे नीचा दिखाया जाय। यूरोप के दूसरे राष्ट्र इससे सहमत थे। नेपोलियन की माता वृद्धा होने पर भी सेण्ट हेलेना मे अपने पुत्र के साथ रहना चाहती थी, लेकिन इन बडी शक्तियो ने कहा कि ऐसा नही हो सकता। नेपोलियन के साथ जो कमीना वर्ताव किया गया, वह उस आतक का एक माप है, जो अभी-तक यूरोप मे उसके नाम से फैला हुआ था, हालाकि उसके पर काट दिये गये थे और वह एक बहुत दूर के टापू मे अशक्त होकर पडा था।

साढे पाच वर्ष तक उसने सेण्ट हेलेना मे यह जिन्दा मौत सहन की। छोटी-सी चट्टान सरीखे उस टापू मे पिजरा-बन्द होकर और रोज कमीनी जिल्लते उठाकर, इस असीम शक्तिवाले और महत्वाकाक्षी व्यक्ति ने जो कष्ट उठाये होगे, उनकी कल्पना करना कठिन नही है।

नेपोलियन मई, सन १८२१ ई० मे मरा। मरने के बाद भी गवर्नर की घृणा-वृत्ति उसके पीछे पडी रही और उसके लिए एक बहुत बुरी कब्र बनवाई गई। धीरे-धीरे नेपोलियन के साथ किये गए दुर्व्यवहार और अत्याचार की खबर जैसे ही यूरोप पहुची (उन दिनो खबर बहुत देर मे पहुचा करती थी) वैसे ही उसके विरोध मे इग्लैण्ड-सहित बहुत-से देशो मे शोर मच गया। इग्लैण्ड का विदेश-मत्री केसल रे, जो इस दुर्व्यवहार के लिए सबसे ज्यादा जिम्मेदार था, इस कारण तथा अपनी कठोर घरू नीति के कारण बहुत बदनाम हो गया। उसे इसका इतना पछतावा हुआ कि उसने आत्म-हत्या कर ली।

महान और असाधारण व्यक्तियो को आकना कठिन होता है, और इसमे कोई सन्देह नही है कि नेपोलियन अपनी तरह का एक महान और असाधारण व्यक्ति था। उसमे एक प्राकृतिक बल की तरह का एक तात्विक बल था। विचारो और कल्पनाओ से भरा हुआ होने पर भी वह आदर्शो और निस्स्वार्थ भावनाओ के मूल्यो की कदर नही करता था। वह लोगो को कीर्ति और धन देकर वश मे करने और प्रभावित करने की कोशिश करता था।

इसलिए जब उसका कीर्त्ति और सत्ता का भंडार खाली हो गया तो जिन लोगो को उसने बढाया था, उन्हीको अपना बनाये रखने के लिए उसके पास कोई आदर्श प्रेरणाए नही रही। इसलिए बहुत-से उसे कमीनेपन के साथ दगा दे गये। धर्म को तो वह गरीबो और दुखियो को अपने दुर्भाग्य से सतुष्ट रखने का केवल एक साधन समझता था। वह निपट अधार्मिक था, लेकिन फिर भी धर्म को प्रोत्साहन देता था, क्योकि वह इसे उस समय की सामाजिक व्यवस्था का पुश्तीवान समझता था। वह कहता था—"धर्म ने स्वर्ग के साथ बराबरी की भावना का विचार जोड रखा है, जो गरीबो को धनवानो की हत्या करने से रोकता है। धर्म का वही उपयोग है, जो चेचक के टीके का। वह हमारी चमत्कारो की रुचि को सतुष्ट कर देता है...। सपत्ति की असमानता के बिना समाज ठहर नही सकता और सम्पत्ति की असमानता बिना धर्म के नही ठहर सकती। जो भूख से मर रहा है, लेकिन जिसका पडोसी स्वादिष्ट भोजनो की दावत उड़ा रहा है, उसे सान्त्वना देनेवाली एक बात तो है पारलौकिक सत्ता मे आस्था और दूसरी यह धारणा कि परलोक मे वस्तुओ का बटवारा दूसरे ही ढग से होगा।"

उसमे महान व्यक्तियो की-सी आकर्षण-शक्ति थी और उसने बहुत-से लोगो की स्नेहपूर्ण मित्रता प्राप्त कर ली थी। अकबर की तरह उसकी निगाह मे आकर्षण था। एक बार उसने कहा था—"मैने तलवार बहुत कम खीची है। मैने लडाइया अपनी आखो से जीती है, हथियारो से नही।" जिस आदमी ने सारे यूरोप को युद्ध मे फसा दिया, उसके मुह से ये शब्द विचित्र मालूम होते है। बाद मे, जब वह निर्वासित था, उसने कहा था कि बल-प्रयोग कोई इलाज नही है और मनुष्य की आत्मा तलवार से भी जोरदार है। उसने कहा था—"तुम जानते हो, मुझे सबसे ज्यादा अचभा किस बात पर होता है? इस बात पर कि बल-प्रयोग किसी चीज का सगठन करने की शक्ति नही रखता। दुनिया मे सिर्फ दो ही ताकते है—एक तो आत्मा और दूसरी तलवार। अन्त मे जाकर आत्मा सदा तलवार पर विजय प्राप्त करेगी।" लेकिन अन्त मे जाकर विजय प्राप्त करना उसके लिए न था। वह तो जल्दी मे था, और अपनी जीवन-यात्रा के प्रारभ मे ही उसने तलवार का मार्ग चुन लिया था, तलवार से ही उसने विजय पाई और तलवार ही उसके पतन का कारण

हुई। फिर उसका कहना था—"युद्ध अब समय की चीज नही है। एक दिन ऐसा आयेगा, जब बिना तोपो और सगीनो के विजये प्राप्त हो जाया करेगी।" परिस्थितियो ने उसे दबा दिया था—उसकी छलाग भरनेवाली महत्वाकाक्षा, युद्ध जीतने में आसानी और यूरोप के शासको की इस कल के छोकरे के प्रति घृणा तथा भय की भावना, इन सबने उसे शान्ति के साथ जमने न दिया। रणभूमि मे वह बडी बेपरवाही के साथ लोगो की जाने झोक देता था, लेकिन फिर भी यह कहा जाता है कि लोगो की तकलीफो को देखकर उसका दिल पसीज जाता था।

व्यक्तिगत जीवन मे वह बहुत सादा-मिजाज था और काम के सिवाय कभी किसी बात मे अति नही करता था। उसकी राय मे "कोई मनुष्य चाहे जितना कम खाये, वह हमेशा जरूरत से ज्यादा खाता है। अधिक भोजन करने से आदमी बीमार पड सकता है, कम खाने से कभी नही।" यही सादा जीवन था, जिसके कारण उसका स्वास्थ्य इतना अच्छा था और उसमे असीम कार्य-शक्ति थी। वह जब चाहता और जितना कम चाहता, सो सकता था। सुबह से लगातार तीसरे पहर तक घोडे पर सौ मील का सफर कर लेना उसके लिए कोई असाधारण बात न थी।

जैसे-जैसे उसकी महत्वाकाक्षा यूरोप के महाद्वीप को सर करती हुई आगे बढती गई, वैसे-वैसे वह यह सोचने लगा कि यूरोप एक राज्य है, एक इकाई है, जहा एक कानून और एक ही सरकार होनी चाहिए। बाद मे सेण्ट हेलेना मे निर्वासित किये जाने पर जब उसका दिमाग ठिकाने आया तो यह विचार फिर उसके हृदय मे अधिक विशाल रूप मे पैदा हुआ— "कभी-न-कभी घटना-चक्र के बल से (यूरोप के राष्ट्रो का) यह मेल होगा। पहला धक्का लग चुका है और मुझे तो लगता है कि मेरी प्रणाली का अन्त होने के बाद यूरोप मे सतुलन स्थापित करने का अगर कोई मार्ग है तो वह एक राष्ट्र-संघ के द्वारा है।" यूरोप अब राष्ट्र-सघ के बारे मे प्रयोग कर रहा है।

लेकिन ये सब विचार उसके दिमाग मे तब आये जब वह निर्वासन मे था और जब उसकी अकल ठिकाने आ गई थी। या शायद उसने आगे के लोगो को अपने पक्ष मे करने के लिए ऐसा लिखा हो। अपनी महानता के

दिनों मे वह इतना अधिक क्रियाशील व्यक्ति था कि वह दार्शनिक नही बन सकता था। वह तो सत्ता की वेदी पर उपासना करता था, उसका सच्चा और अकेला प्रेम सत्ता से था और वह उससे गवारू तौर पर नही, बल्कि एक कलाकार की तरह प्रेम करता था। लेकिन अतिशय सत्ता की लालसा खतरनाक होती है और जो व्यक्ति या राष्ट्र इसके पीछे पडते है, उनका कभी-न-कभी पतन और नाश हो ही जाता है। बस नेपोलियन का भी अन्त हो गया, और यह अच्छा ही हुआ।

इधर बोर्बन लोग फ्रान्स मे राज्य कर रहे थे, लेकिन यह कहा जाता है कि बोर्बन लोगो ने न तो कुछ नसीहत ली और न वे पुरानी बातो को भूले। नेपोलियन के मरने के नौ साल बाद फ्रान्स उनसे तग आ गया और उसने उन्हे उखाड फेका। एक दूसरी राजसत्ता स्थापित हुई और नेपोलियन की स्मृति के प्रति सद्भावना प्रकट करने के लिए उसकी मूर्ति, जो वैन्दोम स्तम्भ के ऊपर से हटा दी गई थी, फिर वही रख दी गई। नेपोलियन की दुखिया माता ने, जो बुढापे मे अधी हो गई थी, कहा—"सम्राट एक बार फिर पेरिस मे आ गया है।"

## : २८ :

# कुछ और हिन्दू सुधारक

भारत पर पश्चिमी विचारो की टक्कर का कुछ असर हिन्दूधर्म पर भी पडा। जन-साधारण पर तो कोई प्रभाव नही हुआ। सरकार की नीति ने तो जानकर कट्टरपथियो को ही सहायता पहुचाई। लेकिन सरकारी मुलाजिमो और पेशेवर लोगो का जो नया मध्यम वर्ग बन रहा था, उनपर असर पडा। उन्नीसवी सदी के प्रारम्भ मे ही बगाल मे हिन्दूधर्म को पश्चिमी ढग पर सुधारने का कुछ प्रयत्न किया गया। इस नये प्रयत्न पर निश्चित रूप से ईसाईयत और पश्चिमी विचारो का असर था। इस प्रयत्न के करनेवाले थे एक महान पुरुष और महान विद्वान राजा राममोहन राय। उन्हे सस्कृत, अरबी और कई अन्य भाषाओ का अच्छा ज्ञान था और उन्होने विविध धर्मो का गभीर अध्ययन किया था। वह पूजा-पाठ

आदि धार्मिक कर्म-काड के विरुद्ध थे और सामाजिक सुधार और स्त्री-शिक्षा के प्रतिपादक थे। उन्होने जो सगठन स्थापित किया, वह ब्रह्म-समाज कहलाया। जहातक सख्या का सबध है, यह एक छोटी-सी सस्था थी, अब भी वैसी ही है और बगाल के अग्रेजी पढे-लिखे लोगो तक ही सीमित रही है। लेकिन बगाल के जीवन पर इसका जबरदस्त असर पडा है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर का परिवार इसका अनुयायी वन गया और कविवर रवीन्द्रनाथ के पिता महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर बहुत वर्षों तक इसके आधार और स्तम्भ रहे। इसके एक और प्रमुख सदस्य थे केशवचन्द्र सेन।

इस सदी के पिछले हिस्से मे एक और धार्मिक सुधार-आन्दोलन चला। स्वामी दयानन्द सरस्वती इसके प्रवर्त्तक थे। उन्होने आर्यसमाज नाम की एक सस्था स्थापित की। इसने भी हिन्दूधर्म मे पीछे से पैदा हुई अनेक रूढियो का खण्डन किया और जात-पात के साथ युद्ध छेडा। इसकी पुकार थी—"वेदो की शरण मे आओ।" हालाकि यह मुस्लिम और ईसाई विचारो से प्रभावित एक सुधार-आन्दोलन था, लेकिन तत्वत यह एक उग्र आध्यात्मिक आक्रमण का आन्दोलन था। इसका विचित्र परिणाम यह हुआ कि आर्यसमाज, जो शायद हिन्दुओ के अनेक सम्प्रदायो मे सबसे ज्यादा इस्लाम के नजदीक पहुचता था, इस्लाम का प्रतिद्वद्वी और विरोधी बन गया। यह रक्षात्मक तथा निश्चेष्ट हिन्दूधर्म को एक उग्र प्रचारक धर्म मे बदल देने की कोशिश थी। इसका उद्देश्य हिन्दूधर्म का पुनरुद्धार करना था। राष्ट्रीयता का रग दे देने से इस आन्दोलन को कुछ बल मिल गया। वास्तव मे इस आन्दोलन के रूप मे हिन्दू राष्ट्रीयता अपना सिर ऊचा कर रही थी और चूकि यह हिन्दू राष्ट्रीयता थी, अत इसके लिए भारतीय राष्ट्रीयता बन जाना कठिन हो गया।

ब्रह्म-समाज की अपेक्षा आर्यसमाज का कही अधिक व्यापक प्रचार था, खासकर पजाब मे। लेकिन यह ज्यादातर मध्यम वर्ग के लोगो तक ही सीमित था। इसने शिक्षा-प्रचार का बहुत बडा काम किया है और लडके और लडकियो दोनो ही के लिए स्कूल और कालेज खोले है।

इस सदी के एक और असाधारण धार्मिक महापुरुष रामकृष्ण परमहस हुए। लेकिन वह उन महापुरुषो से बहुत भिन्न थे, जिनका मैने जिक्र किया

है। उन सबसे वह जुदा थे। उन्होने सुधार के लिए किसी उग्र समाज की स्थापना नही की। उन्होने सेवा पर जोर दिया और 'रामकृष्ण सेवाश्रम' देश के अनेक भागो मे दुर्बलो की तथा दरिद्र-नारायण की सेवा की यह परम्परा आज भी चला रहे है। रामकृष्ण के एक प्रसिद्ध शिष्य स्वामी विवेकानन्द हुए है, जिन्होने अत्यन्त धाराप्रवाही और जोशीले ढग से राष्ट्रीयता के मन्त्र का प्रचार किया। यह राष्ट्रीयता किसी प्रकार भी मुस्लिम-विरोधी या और किसीकी विरोधी नही थी, न आर्यसमाज की सकुचित राष्ट्रीयता की तरह की थी। फिर भी विवेकानन्द की राष्ट्रीयता का स्वरूप हिन्दू राष्ट्रीयता ही था और इसका आधार हिन्दूधर्म और हिन्दू सस्कृति ही थी।

इस तरह यह एक दिलचस्प बात मालूम होती है कि उन्नीसवी सदी मे भारत मे राष्ट्रीयता की आरम्भिक लहरो का रूप धार्मिक और हिन्दू था। इस हिन्दू राष्ट्रवाद मे मुसलमान स्वभावत ही कोई भाग नही ले सकते थे। वे अलग ही रहे। अग्रेजी शिक्षा से अपनेको दूर रखने के कारण नये विचारो का उनपर कम असर हुआ और उनमे मानसिक चेतना बहुत ही कम थी। कई दशाब्दियो बाद उन्होने अपने तग दायरे से बाहर निकलना शुरू किया और तब हिन्दुओ की तरह उनकी राष्ट्रीयता ने इस्लामी रूप धारण कर लिया। वे इस्लामी परम्पराओ और सस्कृति की ओर मुडकर देखने लगे और उन्हे यह डर हो गया कि हिन्दुओ के बहुमत के कारण कही वे इन्हे खो न बैठे। लेकिन मुसलमानो का यह आन्दोलन बहुत दिन बाद, सदी के अन्त मे, प्रकट हुआ।

हिन्दूधर्म और इस्लाम के इन सुधारक और प्रगतिशील आन्दोलनो के बारे मे एक और मजेदार बात यह है कि इन्होने अपने पुराने धार्मिक विचारो और दस्तूरो को, जहातक हो सका, पश्चिम से प्राप्त नवीन वैज्ञानिक और राजनैतिक विचारो के अनुकूल बनाने की कोशिश की। न तो वे निर्भयता के साथ इन पुराने विचारो और दस्तूरो के सबध मे शका करने को और उन्हे कसौटी पर कसने को तैयार थे, न वे विज्ञान और राजनैतिक तथा सामाजिक विचारो की अपने चारो ओर की नई दुनिया की उपेक्षा कर सकते थे। इसलिए उन्होने यह साबित करने की कोशिश करके दोनो का मेल मिलाने का प्रयत्न किया कि तमाम आधुनिक विचारो और

"अगर आप लोग मुझे इस शर्त पर रिहा करना चाहते हो कि मै सत्य की अपनी खोज को छोड दू तो मै यह कहूगा कि हे एथेन्सवासियो, मै आप लोगो को धन्यवाद देता हू, पर मै आपकी बात मानने के बजाय ईश्वर का हुक्म मानूगा, जिसने, जैसाकि मेरा विश्वास है, मुझे यह काम सौपा है और जबतक मेरे दम-मे-दम है, मै अपनी दार्शनिक चर्चा से बाज नही आऊगा। मै अपना यह तरीका बराबर जारी रखूगा कि जो कोई मुझे मिलेगा, उसे रोककर मै यही पूछ्गा—'क्या तुम्हे इस बात मे शर्म नही लगती कि तुमने अपना ध्यान धन और इज्जत के पीछे लगा रखा है और सचाई या ज्ञान की या अपनी आत्मा को उच्च बनाने की तुम्हे कोई चिन्ता नही है ?' मै नही जानता कि मौत क्या चीज है। मुमकिन है, वह अच्छी चीज हो—मै उससे नही डरता। लेकिन मै यह अच्छी तरह जानता हू कि अपनी जिम्मेदारी की जगह को छोडकर भाग जाना बुरा काम है। और इसलिए मै जिस चीज को निश्चयपूर्वक बुरी मानता हू, उससे उस चीज को बेहतर समझता हू, जो मुझे अच्छी दिखाई पडती है।"

अपनी जिन्दगी मे सुकरात ने सत्य और ज्ञान के प्रचार का काम किया, लेकिन इससे भी ज्यादा काम उसने अपनी मौत के द्वारा कर दिया।

दुनिया मे बहुत-सी मुसीबते और अन्याय पाये जाते है। बहुत-से लोग इस दशा से पूरी तरह असन्तुष्ट है और इसे बदलना चाहते है। अफलातून ने शासन-सम्बन्धी समस्याओ पर विचार किया था और इस विषय पर उसने लिखा भी है। इस प्रकार उस ज़माने मे भी लोग इस बात पर विचार किया करते थे कि किसी देश के समाज को या सरकार को कैसे ढाला जाय, जिससे चारो ओर ज्यादा सुख-शान्ति हो।

जब अफलातून बूढा होने लगा तो एक दूसरा यूनानी, जो बाद मे बहुत मशहूर हो गया, आगे आया। उसका नाम था अरस्तू। वह महान सिकन्दर का निजी शिक्षक रह चुका था और सिकन्दर ने उसके काम मे बहुत मदद की थी। सुकरात और अफलातून की तरह अरस्तू तत्वज्ञान की समस्याओ मे नही उलझता था। वह ज्यादातर कुदरत की चीजो के निरीक्षण और उसके तौर-तरीको के समझने मे लगा रहता था। इसको

होने लगे। सन १९११ मे इसका नाम बदलकर 'कुओ-मिन-ताग' यानी 'जनता का राष्ट्रीय दल' रखा गया और यह चीन की क्राति का केन्द्र बन गया। इस आन्दोलन के प्राण डा० सनयात सेन सयुक्त राज्य अमरीका को आदर्श मानते थे। वह गणतन्त्र चाहते थे, न कि इग्लैड का-सा वैधानिक एकतन्त्र और जापान की-सी सम्राट-पूजा तो हरगिज नही। चीनियो ने अपने सम्राटो को पूजा की चीज कभी नही माना, फिर उनका तत्कालीन शासक राजवश तो 'चीनी' भी नही था। वह राजवश मचू था और जनता मे मचू-विरोधी भावना खूब फैली हुई थी।

जनता की मचू-विरोधी और एकतन्त्र-विरोधी भावना जोर पकडने लगी। क्रातिकारी भी जोर पकडने लगे। इस समय चीन के एक प्रान्त का वाइसराय युआन-शी-काई ही ऐसा मजबूत आदमी था, जो इनका मुकाबला कर सकता था। यह बूढी लोमडी की तरह चालाक था और सयोग से चीन की एक-मात्र आधुनिक तथा होशियार सेना, जिसका नाम 'आदर्श सेना' था, उसके हाथ मे थी। मचू शासको ने बडी बेवकूफी मे आकर इसे चिढा दिया और पद से हटा दिया और इस तरह उन्होने ऐसे एकमात्र व्यक्ति को खो दिया, जो उन्हे कुछ देर के लिए बचा सकता था। अक्तूबर, सन १९११ मे, यागसी की घाटी मे क्राति भडक उठी और शीघ्र ही मध्य और दक्षिणी चीन के बडे हिस्से मे विद्रोह फैल गया। सन १९१२ की पहली जनवरी को इन प्रान्तो ने गणराज्य की घोषणा कर दी और नानकिंग को राजधानी बनाया। डा० सनयात सेन राष्ट्रपति चुने गये।

इधर युआन-शी-काई भी इस नाटक को देख रहा था कि ज्योही अपने फायदे का मौका मिले, हाथ मारे। रीजेण्ट ने (जो उस वक्त बालक सम्राट के एवज मे राज्य कर रहा था) युआन को बरखास्त कर बाद मे दुबारा बुलाया, इसका किस्सा भी दिलचस्प है। पुराने चीन मे हरएक बात बडी शिष्टता और नम्रता के साथ की जाती थी। जिस वक्त युआन को बरखास्त करना जरूरी था, यह घोषणा की गई थी कि उसकी टाग मे तकलीफ है। वास्तव मे सबको अच्छी तरह मालूम था कि उसकी टाग बिल्कुल मजे मे है और उसे बरखास्त करने का यह सिर्फ औपचारिक ढग था। लेकिन युआन ने भी अपना बदला ले लिया। दो साल बाद, सन १९११ मे, जब

उन्नति का स्रोत धार्मिक ग्रन्थो मे मिल सकता है। यह प्रयत्न लाजमी तौर पर असफल होना ही था। इसने लोगो को सही विचार करने से रोक दिया। साहस के साथ विचार करने और दुनिया को बदलनेवाले नये कारणो तथा नये विचारो को समझने के बजाय वे प्राचीन प्रथाओ और परम्पराओ के बोझ से मतिहीन हो गये। आगे देखने और आगे बढने के बजाय वे हर वक्त लुक-छिपकर पीछे की तरफ ताकते थे। अगर कोई अपनी गर्दन हमेशा मोडे रहे और पीछे की तरफ देखता रहे तो आसानी से आगे नही बढ़ सकता।

: २९ :

# डा० सनयात सेन

रूस-जापान-युद्ध के समय चीन चुपचाप खडा देखता रहा, हालाकि लडाई चीन के ही प्रदेश मचूरिया मे हो रही थी। जापान की विजय ने चीन के सुधारको के हाथ मजबूत कर दिये। शिक्षा को नया रूप दिया गया। आधुनिक विज्ञानो के अध्ययन के लिए बहुत-से विद्यार्थी यूरोप, अमरीका और जापान भेजे गये। अफसरो की नियुक्ति का पुराना तरीका उठा दिया गया। यह अजीब तरीका, जो चीन का एक विशेष नमूना था, दो हजार वर्ष से चला आ रहा था। इसकी उपयोगिता तो बहुत पहले ही खत्म हो चुकी थी और यह चीन की प्रगति को रोके हुए था। इसलिए उसका उठ जाना अच्छा ही हुआ।

घटना-चक्र ने चीन के बहुत-से लोगो मे नवजीवन भर दिया और उन्हे अन्यत्र जाकर लगनपूर्वक ज्ञान-ज्योति की तलाश करने के लिए मजबूर किया। जनता इससे भी तेजी के साथ आगे बढ रही थी। सन १८९४ ई० मे डा० सनयात सेन ने 'चीन-पुनरुद्धार समिति' स्थापित कर दी थी और चीन पर विदेशी शक्तियो ने जो अन्यायपूर्ण और एक-तरफा सन्धिया, जिन्हे चीनी लोग 'असमान सन्धिया' कहा करते हैं, जबरदस्ती लादी थी, उनके विरोध-स्वरूप बहुत-से लोग इस समिति मे शामिल हो गये। यह समिति बढने लगी और देश के नवयुवक इसकी तरफ आकर्षित

से पहले उसकी पूरी कीमत चुकानी पडती है। अक्सर वह हमे झूठी उम्मीदे दिखा-दिखाकर बहलाती है, कठिनाइया पैदा करके हमारी परीक्षा लेती है और तब कही प्राप्त होती है। चीन और डा० सेन की मजिल पूरी होने मे अभी बहुत देर थी। बहुत वर्षो तक इस नये गणराज्य को अपने जीवन के लिए सघर्ष करना पडा।

मचुओ ने तो राजगद्दी छोड दी, लेकिन गणराज्य के रास्ते मे युआन अभीतक अडा हुआ था। पता नही, उसका क्या इरादा था। उत्तरी भाग उसके हाथ मे था और दक्षिणी भाग गणराज्य के हाथ मे। शान्ति की खातिर और गृह-युद्ध बचाने के लिए डा० सेन ने अपनेको मिटाकर राष्ट्रपति का पद छोड दिया और युआन को राष्ट्रपति चुनवा दिया, लेकिन युआन तो गणतन्त्रवादी नही था। वह तो अपनी बुलन्दी के लिए सत्ता हथियाने की फ़िराक मे था। जिस गणराज्य ने उसे अपना राष्ट्रपति चुनकर सम्मानित किया था, उसीको कुचलने के लिए उसने विदेशी शक्तियो से रुपया उधार लिया। उसने पार्लमिंट को बरखास्त कर दिया और कुओ-मिन-ताग को तोड़ दिया। इसका नतीजा यह हुआ कि दो दल हो गये और डा० सेन की अध्यक्षता मे दक्षिण मे एक प्रतिपक्षी सरकार की स्थापना हुई। जिस फूट को बचाने के लिए डा० सेन ने उद्योग किया था, वही पैदा हो गई, और जिस समय प्रथम महायुद्ध शुरू हुआ, चीन मे दो सरकारे थी। युआन ने सम्राट बनने की कोशिश की, लेकिन वह सफल नही हुआ और थोडे ही दिनो बाद मर गया।

अगस्त, सन १९१७ मे, युद्ध प्रारम्भ होने के तीन वर्ष बाद, चीन मित्र-राष्ट्रो के साथ मिल गया और उसने जर्मनी के विरुद्ध युद्ध-घोषणा कर दी। यह उपहास की-सी बात थी, क्योकि चीन जर्मनी का कुछ नही बिगाड़ सकता था। इसमे चीन का सारा उद्देश्य यह था कि वह मित्र-राष्ट्रो के साथ अपने बिगडे हुए सबध को ठीक करना चाहता था और जापान के और अधिक शिकजो से अपने-आपको बचाना चाहता था।

इसके कुछ ही दिन बाद नवम्बर, १९१७ मे रूसी बोल्शेविक क्रान्ति हो गई, जिसके फलस्वरूप सारे उत्तरी एशिया मे बडी भारी गड़बड़ फैल गई। सोवियत तथा सोवियत-विरोधी फौजो का एक रण-क्षेत्र साइ-बेरिया था। रूसी 'श्वेत' सेनापति कोलचक्र सोवियतो के विरुद्ध साइबेरिया

सरकार के विरुद्ध विप्लव और विद्रोह उठ खडा हुआ, रीजेण्ट ने घबराकर युआन को वुलवाया। लेकिन युआन का इरादा तबतक जाने का नही था, जबतक उसकी शर्ते मजूर न कर ली जाय। उसने रीजेण्ट को जो जवाव भेजा, उसमे खेद के साथ कहा कि उसके लिए घर छोडना सम्भव नही है, क्योकि टाग में तकलीफ होने के कारण वह यात्रा नही कर सकता। लेकिन एक महीने बाद जब उसकी शर्ते मजूर कर ली गई तो उसकी टाग भी अद्भुत गति से चगी हो गई।

लेकिन अव इतनी देर हो चुकी थी कि क्राति नही रुक सकती थी। युआन भी इस कदर चालाक था कि दोनो मे से किसी पक्ष के साथ बधकर अपनी स्थिति को खतरे मे नही डालना चाहता था। आखिरकार उसने मचुओ को गद्दी छोडने की सलाह दी। इधर तो गणतन्त्र उनके मुकाबले में खडा था, और उधर उनके सेनापति ने उनका साथ छोड दिया था, इसलिए मचू शासको के लिए कुछ चारा ही न था। १२ फरवरी, सन १९१२ ई० को सिंहासन-त्याग का फरमान निकाल दिया गया। इस प्रकार ढाई सदी से ज्यादा के स्मरणीय शासन के बाद चीन के रगमच से मचू-राजवश का प्रस्थान हुआ। एक चीनी कहावत के अनुसार उन्होने "सिह जैसी गर्जना करते हुए प्रवेश किया और साप की पूछ की तरह प्रस्थान किया।"

इसी १२ फरवरी के दिन नये गणराज्य की राजधानी नानकिंग म, जहा प्रथम मिंग बादशाह का मकबरा बना हुआ था, एक अजीब रस्म पूरी की गई—ऐसी रस्म, जिसने पुरानी तथा नई बातो का भेद दर्शाते हुए उन्हे एक साथ ला दिया। गणराज्य के राष्ट्रपति सनयात सेन ने अपने मत्रिमडल के साथ मकवरे पर जाकर पुराने तरीके से प्रसाद चढाया। इस मौके पर भाषण देते हुए उन्होने कहा—"हम पूर्वी एशिया के लिए गणतन्त्री शासन का नमूना सबसे पहले पेश कर रहे हैं। जो लोग कोशिश करते है, उन्हे देर-अवेर सफलता मिलती ही है। नेकी का अन्त मे जरूर इनाम मिलता है। फिर हम आज यह गम क्यो करे कि विजय इतनी देर से आई!"

वहुत वर्षो तक, अपने देश मे और निर्वासित रहकर सनयात सेन चीन की आजादी के लिए जान लडाते रहे और अन्त मे सफलता आती दिखाई दी। लेकिन आजादी एक बेवफा दोस्त है और सफलता प्राप्त करने

का था, जिनका सुदूर पूर्व के सवाल से सरोकार था, और वे अपनी जल-सेनाओ की सख्या पर विचार करने के लिए एकत्र हुई थी। जहातक चीन और जापान का सबध था, सन १९२२ के इस वाशिगटन-सम्मेलन से कई महत्वपूर्ण परिणाम निकले । जापान शातुग वापस देने को राजी हो गया, और इस तरह, जिस एक सवाल ने चीनी लोगो को बुरी तरह विचलित कर रखा था, उसका फैसला हो गया । इन शक्तियो के बीच दो महत्वपूर्ण राजीनामे भी हुए ।

इनमे से एक राजीनामा, जो अमरीका, इग्लैड, जापान और फ्रास के बीच हुआ, 'चार-शक्ति-करार' कहलाता है । इन चारो शक्तियो ने आपस मे वचन दिये कि प्रशान्त महासागर मे एक-दूसरे के अधिकृत स्थानो की प्रादेशिक सीमाओ का खयाल रखेगे, अर्थात उन्होने वादे किये कि वे एक-दूसरे के प्रदेशो पर अनधिकार प्रवेश नही करेगे । दूसरा राजीनामा, जो 'नौ-शक्ति सन्धि' कहलाता है, इस सम्मेलन मे शामिल होनेवाली संयुक्त राज्य अमरीका, बेल्जियम, इग्लैड, फ्रान्स, इटली, जापान, हालैण्ड, पुर्तगाल और चीन, इन नौ शक्तियो के बीच हुआ ।

इन दोनो राजीनामो का अभिप्राय भावी आक्रमणो से चीन की रक्षा करना था । इनका अभिप्राय था शक्तियो के रियायतो की तलाश और कब्जा करने के उस खेल को रोकना, जो वे अबतक खेलती आ रही थी । पश्चिमी शक्तियो को युद्धोत्तर समस्याओ से ही फुरसत नही थी, इसलिए उस समय चीन मे उन्हे कोई दिलचस्पी नही थी । इसीलिए उन्होने आत्म-त्याग का यह कायदा बनाकर उसे पालन करने की शपथपूर्वक प्रतिज्ञा की । जापान ने भी इसके पालन की प्रतिज्ञा की, यद्यपि यह उस निश्चित नीति से टक्कर खाता था, जिसे वह बहुत वर्षो से बरत रहा था । लेकिन अधिक वर्ष बीतने न पाये थे कि यह बिल्कुल स्पष्ट हो गया कि तमाम राजीनामो और प्रतिज्ञाओ के बावजूद जापान ने अपनी पुरानी नीति जारी रखी और चीन पर हमला कर दिया । अन्तर्राष्ट्रीय वचन-भग और मक्कारी का यह एक अद्भुत निर्लज्जतापूर्ण उदाहरण है । आगे चलकर जो घटनाए हुई, उनकी पृष्ठभूमि समझाने के लिए मुझे यहा वाशिगटन-सम्मेलन का जिक्र करना पडा ।

को अपना अड्डा बनाकर लड रहा था। सोवियत की शानदार विजय से चौकन्ने होकर जापानियो ने साइबेरिया को एक बडी सेना भेजी। ब्रिटिश और अमरीकी सैनिक भी वहा भेजे गये। कुछ समय के लिए साइबेरिया से और मध्य-एशिया से रूसी प्रभाव गायब हो गया। ब्रिटिश सरकार ने इन क्षेत्रो मे रूस का इकबाल पूरी तरह खत्म करने का भरसक प्रयत्न किया। मध्य-एशिया के बीचो-बीच काशगर मे अग्रेजो ने बोल्शेविक-विरोधी प्रचार के लिए एक रेडियो स्टेशन कायम कर दिया।

मगोलिया मे भी सोवियत तथा सोवियत-विरोधी लोगो के बीच घमासान लडाई हुई। सन १९१५ मे जब महायुद्ध चल ही रहा था, जारशाही रूस की सहायता से मगोलिया चीनी सरकार से स्वशासन का बहुत-कुछ अधिकार प्राप्त करने मे सफल हो गया था। सर्वोपरि सत्ता तो चीन की ही बनी रही, पर मगोलिया के वैदेशिक सबधो के मामले मे रूस को भी वहा कुछ बराबरी का दरजा दे दिया गया। यह निराली व्यवस्था थी। सोवियत क्रान्ति के बाद मगोलिया मे गृह-युद्ध हुआ, जिसमे तीन वर्ष से ऊपर सघर्ष के बाद सोवियतो की जीत हुई।

महायुद्ध के बाद होनेवाले शान्ति-सम्मेलन ने—बडी शक्तियो ने—जिनमे खासतौर से इग्लैड, फ्रान्स और सयुक्त राज्य अमरीका को गिनना चाहिए, चीन का शातुग प्रान्त जापान की भेंट करना तय किया। इस प्रकार, इस युद्ध के फलस्वरूप, इन शक्तियो ने अपने साथी चीन से उसके देश का एक टुकडा सचमुच जापान को दिलवा दिया। इसका कारण यह था कि युद्ध के दौरान मे इग्लैड, फ्रान्स और जापान के बीच कोई गुप्त सधि हो गई थी। कारण चाहे जो रहा हो, चीन के साथ इस गन्दी चालबाजी पर चीनी जनता ने तीव्र रोप प्रकट किया और पेकिंग की सरकार को धमकी दी कि यदि उसने इस मामले मे समझौता कर लिया तो क्रान्ति हो जायगी। जापानी माल के सख्त बहिष्कार की भी घोपणा कर दी गई और जापान-विरोधी दगे हुए। चीनी सरकार ने (जिससे मेरा मतलब उत्तर की पेकिग सरकार से है, जो मुख्य सरकार थी) शान्ति की सधि पर सही करने से इन्कार कर दिया।

दो वर्प बाद सयुक्त राज्य अमरीका के वाशिगटन नगर में एक सम्मेलन हुआ, जिसमें शातुग का यह प्रश्न उठाया गया। यह सम्मेलन उन सब शक्तियो

सोवियत सरकार ने डा० सनयात सेन की दक्षिणी चीनी सरकार से भी बातचीत शुरू की, जिसका सदर मुकाम कैण्टन मे था और दोनो मे आपसी समझौता हो गया। करीब-करीब इस सारे ही समय मे उत्तर और दक्षिण के बीच तथा उत्तर मे विभिन्न फौजी सेनापतियो के बीच एक हलका-सा गृह-युद्ध चल रहा था। ये उत्तरी तूशन, या इनमे से महा-तूशन कहलानेवाले कुछ लोग, किसी सिद्धान्त या कार्यक्रम के लिए नही लड रहे थे, उनकी लडाई तो व्यक्तिगत अधिकार की थी। वे एक-दूसरे के साथ मिल जाते और फिर दूसरे पक्ष मे जा मिलते और नये गठबधन बना लेते। ये निरन्तर बदलनेवाले गठबन्धन बाहरवालो को बहुत चक्कर मे डाल देते थे। ये तूशन, या सैनिक हौसले-बाज, निजी सेनाए खडी करते थे, निजी टैक्स वसूल करते थे निजी युद्धो में लगे रहते थे, और इन सबका बोझ पडता था बेचारी चिर-पीडित चीनी जनता पर। कहते है कुछ महा-तूशनो की पीठ पर विदेशी शक्तिया थी, खासकर जापान। शाघाई की बडी-बडी व्यापारिक कम्पनियो से भी इन्हे रुपये-पैसे की मदद मिलती रहती थी।

इस अधकार के बीच दक्षिण ही एक आलोकित स्थान था, जहा डा० सनयात सेन की सरकार काम कर रही थी। इसके कुछ आदर्श थे और एक नीति थी, और यह तूशनो की कुछ हुकूमतो की तरह लुटेरो का मामला नही थी। सन १९२४ मे कुओ-मिन-ताग या जनता के दल की पहली राष्ट्रीय काग्रेस हुई और डा० सनयात सेन ने इसके सामने एक घोषणा-पत्र रखा। इस घोषणा-पत्र मे उसने राष्ट्र का मार्ग-प्रदर्शन करनेवाले सिद्धान्तो का निरूपण किया।

मार्च, सन १९२५ ई०, में डा० सनयात सेन को मृत्यु हो गई। उन्होने अपनी जान चीन की सेवा मे खपा दी थी और यह चीनी जनता के परम-प्रिय पात्र बन गये थे।

: ३० :

# रज़ाशाह पहलवी

सन १९१४ के महायुद्ध में ईरान ने निष्पक्षता की घोषणा की, मगर कमजोरो की घोषणाओ का बलवानो पर कुछ असर नही होता। ईरान की

इसी वाशिंगटन-सम्मेलन के अवसर के आस-पास ही साइबेरिया से विदेशी सैनिको को अन्तिम रूप से हटा लिया गया। जापानी सबसे आखिर मे हटे। इनके हटते ही स्थानीय सोवियते तुरन्त मैदान मे आ गईं और रूस के सोवियत गणराज्य मे शामिल हो गईं।

सोवियत गणराज्य ने स्थापित होने के कुछ ही दिन बाद चीनी सरकार को लिखा था और उन तमाम खास विशेषाधिकारो को छोडने का इरादा जाहिर किया था, जिनका अन्य साम्राज्यशाही शक्तियो के समान जारशाही रूस भी उपभोग कर रहा था। एक तो साम्राज्यवाद और साम्यवाद का किसी तरह का साथ नही हो सकता, पर इसके अलावा भी, सोवियत ने पूर्वी देशो के प्रति, जिन्हे पश्चिमी शक्तिया बहुत समय से निचोड रही थी और दबा रही थी, जान-बूझकर उदार नीति का अवलम्बन किया। सोवियत रूस के लिए यह नेक कर्तव्य पालन तो था ही, ठोस नीति भी थी, क्योकि इससे पूर्व के कई देश उसके मित्र बन गये। खास विशेषाधिकारो को छोड़ने का रूस का प्रस्ताव बिना किसी तरह की शर्तो के था, वह बदले मे कुछ नही चाहता था। इसपर भी चीनी सरकार रूस के साथ ताल्लुक बढाने मे डरती थी कि कही पश्चिम की यूरोपीय शक्तिया नाराज न हो जाय। खैर, अन्त मे रूसी और चीनी प्रतिनिधि एक जगह मिले और सन १९२४ मे दोनो मे कुछ बातो पर राजीनामा हो गया। इस राजीनामे की खबर लगते ही फ्रान्सीसी, अमरीकी और जापानी सरकारो ने पेकिंग सरकार को अपना विरोध लिख भेजा और वह इतनी घबरा गई कि उसने सचमुच इस राजीनामे पर अपने प्रतिनिधि के हस्ताक्षर को ही मानने से इन्कार कर दिया। इसपर रूसी प्रतिनिधि ने राजीनामे की सारी इबारत प्रकाशित कर दी। इससे काफी सनसनी फैल गई। यह पहला ही मौका था कि शक्तियो के साथ व्यवहार मे चीन के प्रति सम्मान और भलमनसाहत का बर्ताव किया गया था और उसके अधिकारो को मान्यता दी गई थी। चीनी लोग तो इसपर खुशी से उछल पडे और सरकार को इसके ऊपर सही करनी पडी। साम्राज्यशाही शक्तियो के लिए इसे नापसन्द करना स्वाभाविक था, क्योकि इससे उनकी सारी पोल खुल जाती थी। वे सभी खास विशेषाधिकारो पर अडी हुई थी।

प्रकृति-दर्शन या आजकल अक्सर विज्ञान कहते है। इस तरह अरस्तू को पहले जमाने का एक वैज्ञानिक मान सकते हैं।

: ३ :

# सिकन्दर

सिकन्दर मकदूनिया का रहनेवाला था, जो यूनान के ठीक उत्तर मे है। सिकन्दर का पिता फिलिप मकदूनिया का बादशाह था। वह बहुत काबिल था। उसने अपने छोटे-से राज्य को बहुत मजबूत बना लिया था और एक बहुत होशियार सेना सगठित कर ली थी। सिकन्दर 'महान' कहलाता है और इतिहास मे बहुत मशहूर है। लेकिन उसने जो कर दिखाया, इसकी बहुत-कुछ वजह यह थी कि उसके पिता ने पहले ही से उसके लिए जमीन तैयार कर रखी थी। सिकन्दर वास्तव मे बडा आदमी था या नही, यह कहना मुश्किल है। कम-से-कम मै अपने अनुकरण करने लायक वीर उसे नही मानता। लेकिन थोडी ही जिन्दगी मे उसने दो महाद्वीपो पर अपने नाम की छाप डाल दी और इतिहास मे वह पहला विश्व-विजेता माना जाता हैं। दूर मध्य-एशिया के भीतर के देशो मे सिकन्दर के नाम से वह अभीतक मशहूर है। असल मे वह चाहे जैसा रहा हो, पर इतिहास ने उसके नाम को बडा शानदार बना दिया हैं। बीसियो शहर उसके नाम पर बसाये गये, जिनमे से बहुत-से आजतक भी मौजूद है। इनमे सबसे बडा शहर मिस्र का सिकन्दरिया (अलेग्ज़ेड्रिया) है।

जब सिकन्दर बादशाह हुआ, उसकी उम्र सिर्फ बीस साल की थी। महानता प्राप्त करने के हौसले से उसका दिल इतना भरा हुआ था कि वह अपने पिता द्वारा सुसगठित सेना को लेकर अपने पुराने दुश्मन ईरान पर धावा करने के लिए बेताब हो रहा था। यूनानी लोग न तो फिलिप को चाहते थे, न सिकन्दर को, लेकिन उनकी ताकत को देखकर वे लोग कुछ दब-से गये थे। इसलिए सब यूनानियो ने ईरान पर धावा करनेवाली सेना का सेनापति पहले फिलिप को, और बाद मे सिकन्दर को, मान लिया था। इस तरह उन्होने इस नई ताकत के सामने सिर झुका दिया, जो उस समय पैदा

निष्पक्षता की किसी भी पक्ष ने परवा न की। अभागी ईरानी सरकार कुछ भी समझा करे, विदेशी फौजे आ-आकर उसकी जमीन पर आपस म लडती रही। ईरान के चारो तरफ युद्ध मे लडनेवाले देश थे। एक तरफ इग्लैड और रूस आपस मे दोस्त थे। दूसरी तरफ तुर्की, जिसके राज्य में उस समय इराक और अरबस्तान शामिल थे, जर्मनी का साथी था। सन १९१८ मे महायुद्ध समाप्त हुआ और इसमे इग्लैड, फ्रान्स और उनके साथियो की जीत हुई। उस समय सारे ईरान पर ब्रिटिश फौजो का कब्जा था। इग्लैड ईरान पर अपना सरक्षण घोषित करने ही वाला था, जो कब्जा करने का मुलायम रूप था। साथ ही भूमध्यसागर से लगाकर बलूचिस्तान और भारत तक एक विशाल मध्य-पूर्वीय साम्राज्य कायम करने के सपने भी देखे जा रहे थे। मगर ये सपने पूरे नही हुए। ब्रिटेन के दुर्भाग्य से रूस में जारशाही का अन्त हो गया था और उसकी जगह सोवियत रूस बन चुका था। ब्रिटेन का यह भी दुर्भाग्य रहा कि तुर्की मे उसकी चालें बेकार हुईं और कमालपाशा ने अपने देश को मित्र-राष्ट्रो की दाढ़ो मे से बचाकर निकाल लिया।

इनसब घटनाओ से ईरानी राष्ट्रवादियो को मदद मिली और ईरान नाममात्र के लिए आजाद बना रहने में सफल हो गया। सन १९२१ मे एक ईरानी सिपाही रज़ाखा सैनिक चालबाजी से सामने आया। उसने फौज पर कब्जा कर लिया और फिर प्रधानमत्री बन गया। सन १९२५ मे शाह गद्दी से उतार दिया गया और विधान परिषद की राय से रज़ाखा नया शाह चुन लिया गया। उसने रज़ाशाह पहलवी का नाम और उपाधि धारण की।

रजाशाह शान्तिपूर्ण और जाहिरा तौर पर लोकतन्त्री उपायो से गद्दी पर पहुचा। पिछले कुछ वर्षो मे ईरान बहुत अधिक बदल गया है, जोरदार राष्ट्रीय पुनर्जीवन हो रहा है, जिसने देश मे नई जान डाल दी है। जहा कही ईरान मे विदेशी स्वार्थों का सबध है, वहा यह नवजीवन आक्रमणकारी राष्ट्रीयता का रूप धारण कर रहा है।

यह बडी, दिलचस्प बात है कि यह राष्ट्रीय नवचेतना ईरान की दो हजार वर्ष की सच्ची परम्परा के अनुकूल है। उसकी नजर शुरू के दिनो

की, इस्लाम से पहले की, ईरान की महानता पर लौट रही है और वह उसीसे प्रेरणा लेने की कोशिश कर रहा है। रजाशाह ने अपने वश के लिए जो 'पहलवी' नाम रखा है, वह भी उस पुराने ज़माने की याद दिलाता है। वैसे ईरान के लोग शिया मुसलमान है, मगर जहातक उनके देश का सवाल है, वहा राष्ट्रीयता इस्लाम से भी ज्यादा जोरदार बल है। एशिया भर मे यही हो रहा है। यूरोप मे ऐसा ही सौ वर्ष पहले, यानी उन्नीसवी सदी में, हुआ था। लेकिन आज तो वहा अनेक लोग राष्ट्रीयता के सिद्धान्त को भी उतार फेका हुआ मानने लगे है और ऐसे नये धर्मो और विश्वासो की तलाश मे है, जो मौजूदा हालतो के ज्यादा अनुकूल हो।

ईरान को पहले फारस कहते थे, पर अब इसका सरकारी नाम ईरान कर दिया गया है। रज़ाशाह ने आज्ञा निकाल दी कि फारस नाम का उपयोग न किया जाय।

: ३१ :

# मेजिनी और गैरीबाल्दी

इटली की राष्ट्रीयता का पैगम्बर ग्वीसेप मेजिनी था। सन १८३१ में उसने 'नौजवान इटली' नामक समिति का सगठन किया, जिसका उद्देश्य इटली का एक गणराज्य स्थापित करना था। उसने इस उद्देश्य के लिए वर्षो तक काम किया। उसे निर्वासित भी रहना पडा और अक्सर अपनी जान जोखिम मे डालनी पडी। उसकी अनेक राष्ट्रीय रचनाए साहित्य के रत्न बन गई है। सन १८४८ मे, जब उत्तरी इटली मे जगह-जगह विद्रोहो की आग भडक रही थी, मेजिनी को मौका मिल गया और वह रोम चला आया। पोप को निकाल बाहर किया गया और तीन आदमियो को समिति के मातहत गणराज्य का ऐलान कर दिया गया। इस त्रिमूर्ति को पुराने रोमन इतिहास के एक शब्द के अनुसार "त्रियमवीर" नाम दिया गया। इनमे एक मेजिनी था। इस नवजात गणराज्य पर चारो तरफ से हमले होने लगे—आस्ट्रियावालो द्वारा, नेपल्सवालो द्वारा, यहातक कि फ्रान्सीसियों द्वारा भी, जो पोप को फिर से गद्दी पर बिठाने के लिए आये। रोम के

गणराज्य की तरफ से लड़नेवालो का सरदार गैरीवाल्दी था। उसन आस्ट्रिया-वालो को रोक रखा, नेपल्सवालो को हरा दिया और फ्रान्सवालो को भी आगे न वढने दिया। यह सव स्वयसेवको की मदद से किया गया और गण-राज्य की रक्षा मे रोम के अच्छे-से-अच्छे और वहादुर-से-वहादुर युवको ने अपनी जाने दी। पर अन्त मे एक वीरतापूर्ण सघर्ष के वाद रोम का गणराज्य फ्रान्सीसियो से हार गया और उन लोगो ने पोप को फिर से ला विठाया।

इस तरह सघर्ष की पहली कला का अन्त हुआ। प्रचार तथा अगले वडे प्रयत्न की तैयारी के रूप मे मेजिनी तथा गैरीवाल्दी अपना-अपना काम भिन्न-भिन्न तरीको से करते रहे। वे एक-दूसरे से वहुत भिन्न थ। एक विचारक और आदर्शवादी था और दूसरा सिपाही, जिसमे छापामार युद्ध-कला की असाधारण प्रतिभा थी। दोनो मे इटली की आजादी और एकता की जवरदस्त लगन थी। इसी समय इस वडे खेल मे एक तीसरा खिलाडी और प्रकट हुआ। यह पीडमाण्ट के राजा विक्टर इम्मानुएल का प्रधान मत्री कावूर था। उसका मुख्य लक्ष्य विक्टर इम्मानुएल को इटली का वादशाह वनाना था। चूकि इसके लिए कई छोटे-छोटे राजाओ को दवाने और हटाने की जरूरत थी, इसलिए कावूर मेज़िनी और गैरीवाल्दी के कार्यो का फायदा उठाने को पूरी तरह तैयार था। उसने फ्रान्सवालो से साजिश की और उन्हे अपने दुश्मन आस्ट्रियावालो के साथ लडाई मे फसा दिया। उस समय फ्रास का शासक नेपोलियन तृतीय था। यह सन १८५९ ई० की वात है। फ्रान्स-वालो के हाथो आस्ट्रियावालो की पराजय से गरीबाल्दी ने फायदा उठाया और नेपल्स तथा सिसली के वादशाह पर विना किसीसे सलाह किये तथा अपने ही नेतृत्व मे एक असाधारण फौजी धावा कर दिया। गैरीबाल्दी और उसके एक हजार लाल कुरतेवालो का यह मशहूर फौजी धावा था। इन लोगो ने, जिन्हे न तो सैनिक शिक्षा मिली थी और न जिनके पास ठीक हथियार और सामान थे, अपने सामने डटी हुई शिक्षित सेनाओ का मुकावला किया। दुश्मन की सेना इन एक हज़ार लाल कुरतेवालो से वहुत ज्यादा थी लेकिन उनके जोश और जनता की सद्भावना से उन्हे विजय-पर-विजय प्राप्त होती गई। गैरीवाल्दी की कीर्त्ति चारो तरफ फैल गई। उसके नाम मे ऐसा जादू था कि उसके नजदीक पहुचते ही फौजे तितर-वितर हो जाती थी।

फिर भी गैरीबाल्दी का काम मुश्किल था और कितनी ही बार वह तथा उसके स्वयसेवक पराजय और घोर विपत्ति के किनारे पड जाते थे। किन्तु पराजय की घडियो मे भी भाग्य उसका साथ देता था और पराजय को विजय मे बदल देता था। जान झोककर साहसपूर्ण कार्य करनेवालो पर भाग्य की ऐसी ही कृपा रहती है।

गैरीबाल्दी और उसके हजार साथी सिसली के तट पर उतरे। वहा से वे लडते-लडते धीरे-धीरे इटली तक जा पहुचे। दक्षिण इटली के गावो मे होकर कूच करते हुए वह स्वयंसेवको की माग करता जाता था और निराले ही इनाम देने की घोषणा करता था। वह कहता—"चले आओ! चले आओ! जो घर मे घुसा रहता है, वह कायर है। मै तुम्हे थकान, तकलीफे और लडाइया देने का वादा करता हू। परन्तु हम या तो जीतेंगे या मर मिटेंगे।" दुनिया सफलता की कद्र करती है। गैरीबाल्दी की शुरू की सफलताओ ने इटली के लोगो की राष्ट्रीयता की भावना को ऐसा उभारा कि स्वयसेवको का ताता बध गया और वे गैरीबाल्दी का गीत गाते हुए उत्तर की तरफ बढ़े। उस गीत का आशय यह है :

उघड़ गई हैं कब्रें
मुर्दे दूर-दूर से आते उठकर।
ले तलवारें हाथों में,
औ' कीर्त्ति ध्वजा के साथ
युद्ध के लिए खड़े हो रहे प्रेतगण
अमर शहीदों के अपने,
जिनके मृत हृदयों मे गरमी
इटली का नाम रही ह भर,
आओ, दो उनका साथ!
देश के नवयुवको,
तुम चलो उन्हीके पीछे।
आओ, फहरा दो झंडा अपना
औ' बाजे जंगी सब साजो।
आ जाओ, सब लेकर ठंडी फौलादी तलवारें

लेकिन हो आग हृदय में भरी हुई !
आ जाओ सब लेकर
इटली की आशाओ की ज्योति भरे !
इटली से बाहर हो !
ओ परदेशी,
तू बाहर निकल
हमारे प्यारे वतन इटली से

राष्ट्रीय गीत सब जगह कितने समान होते है !

कावूर ने गैरीबाल्दी की सफलताओ से फायदा उठाया और इस सबका नतीजा यह हुआ कि सन १८६१ मे पीडमाण्ट का विक्टर इम्मानुएल इटली का बादशाह हो गया। रोम पर अभीतक फ्रांसीसी सैनिको का कब्जा था और वेनिस पर आस्ट्रियावालो का। दस वर्ष के भीतर वेनिस और रोम बाकी इटली मे मिल गये और रोम राजधानी बन गया। आखिर इटली एक सयुक्त राष्ट्र हो गया। लेकिन मेजिनी को इससे खुशी नही हुई। उसने सारी उम्र गणराज्य के आदर्श के लिए जान लडाई थी और अब इटली सिर्फ पीडमाण्ट के विक्टर इम्मानुएल की रियासत बन गया। यह सही है कि नया राज्य सवैधानिक राज्य था और विक्टर इम्मानुएल के राजा बनते ही तुरन्त टूरिन मे इटली की पार्लमेट की बैठक हुई।

इस तरह इटली का राष्ट्र फिर से विदेशी शासन से मुक्त हो गया। यह तीन आदमियो की करामात थी—मेजिनी, गैरीबाल्दी और कावूर की। इन तीनो मे से एक भी न होता तो शायद इस आजादी को आने मे बहुत देर लगती।

इटली की आज़ादी की लडाई के दिनो में अग्रेज जनता की सहानुभूति गैरीबाल्दी और उसके लाल कुरतेवालो के साथ थी और कितने ही अग्रेज कवियो ने इस लडाई पर जोशीली कविताए लिखी थी। यह अजीब बात है कि जहा अग्रेजो का स्वार्थ आडे नही आता, वहा उनकी सहानुभूति अक्सर आज़ादी के लिए लडनेवाले राष्ट्रो के साथ किस तरह हो जाती है ! यूनान आजादी के लिए लडता है तो वे अपने कवि बायरन और अन्य लोगो को भेज देते है। उस समय इटली के बारे में स्विनबर्न,

मेरीडिथ और एलीजाबेथ बैरेट ब्राउनिग ने बडी सुन्दर कविताएं लिखी थी। मेरीडिथ ने तो इस विषय पर उपन्यास भी लिखे थे।

: ३२ :

# जर्मनी का लौहपुरुष बिस्मार्क

उन्नीसवी सदी के मध्य के लगभग प्रशिया मे एक आदमी उठा, जो आगे चलकर बहुत दिनो तक न सिर्फ जर्मनी पर, बल्कि यूरोप की राजनीति पर हावी होनेवाला था। यह आदमी प्रशिया का एक जमीदार था और इसका नाम औटो वॉन बिस्मार्क था। वह वाटरलू की लडाई के साल (१८१५ ई०) मे पैदा हुआ था और उसने अलग-अलग दरबारो में कई वर्ष कूटनीतिक राजदूत का काम शुरू किया था। सन १८६२ मे वह प्रशिया का प्रधान मत्री बना और तुरन्त ही उसने अपना सिक्का जमाना शुरू कर दिया। प्रधान मत्री बनने के एक सप्ताह के अन्दर उसने अपने एक भाषण के दौरान मे कहा—"इस जमाने की बडी समस्याए भाषणो और बहुमत के प्रस्तावो से नही, बल्कि लोहे और खून से हल होगी।"

लोहा और खून! प्रसिद्धि प्राप्त करनेवाले ये शब्द सचमुच उसकी उस नीति के प्रतीक थे, जिसे उसने दूरदेशी और कठोरता के साथ निभाया। उसे लोकतन्त्र से नफरत थी और वह पार्लमेंटो और लोकप्रिय विधान-मडलो को हिकारत की नजर से देखता था। वह पुराने जमाने का अवशेष मालूम होता था, मगर उसकी योग्यता और दृढता ऐसी थी कि उसने वर्तमान काल को अपनी इच्छा के सामने झुका लिया। उसने आधुनिक जर्मनी का निर्माण किया और उन्नीसवी सदी के उत्तरार्द्ध मे यूरोप के इतिहास को अपने साचे मे ढाला। दार्शनिको और वैज्ञानिको का जर्मनी तो पीछे रह गया और खून और लोहेवाला तथा सैनिक कुशलतावाला नया जर्मनी यूरोप के महाद्वीप पर हावी होने लगा। उस समय के एक प्रमुख जर्मन ने कहा था—"बिस्मार्क जर्मनी को महान बना रहा है और जर्मनो को छोटा।" जर्मनी को यूरोप मे और अन्तर्राष्ट्रीय मामलो मे महान शक्ति बनाने की उसकी नीति से जर्मन

लोग खुश होते थे और बढती हुई राष्ट्रीयता की चकाचौंध से वे बिस्मार्क के सब तरह के दमन को सहन कर लेते थे।

बिस्मार्क के हाथ मे जब बागडोर आई, उसके दिमाग में साफ-साफ विचार थे कि उसे क्या-क्या करना है और उसके पास सावधानी से बनाई हुई योजना थी। वह दृढता के साथ उस योजना पर डटा रहा और उसे अद्‌भुत सफलता मिली। वह जर्मनी का और जर्मनी के जरिये प्रशिया का यूरोप मे प्रभुत्व कायम करना चाहता था। उस समय नेपोलियन तृतीय के मातहत फ्रान्स यूरोप मे सबसे बलवान राष्ट्र समझा जाता था। आस्ट्रिया भी एक बडा प्रतिद्वन्द्वी था। पुराने ढग की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति और कूटनीति के एक पाठ की तरह यह देखकर चित्त मोहित हो जाता है कि बिस्मार्क दूसरी शक्तियो को किस तरह खेल खिलाता था और बारी-बारी से एक-एक करके उनसे कसे निबटता था। सबसे पहली चीज जिसे करने का उसने बीडा उठाया था, यह थी कि जर्मनो के नेतृत्व का सवाल सदा के लिए हल कर दिया जाय। प्रशिया और आस्ट्रिया की पुरानी लाग-डाट जारी नही रहने दी जा सकती थी। इस सवाल का अन्तिम निर्णय प्रशिया के पक्ष में होना चाहिए था और आस्ट्रिया को महसूस कर लेना चाहिए था कि उसका दरजा दूसरा रहेगा। आस्ट्रिया के बाद फ्रान्स की बारी थी। (जब मै प्रशिया, आस्ट्रिया और फ्रान्स की बात करता हू, तब मेरा मतलब वहा की सरकारो से है। ये सरकारे थोडी या बहुत मात्रा मे निरकुश थी और वहा की पार्लमेंटो के हाथ मे कोई सत्ता नही थी।)

बस, बिस्मार्क न अपनी फौजी मशीन को चुपचाप मकम्मिल कर लिया। इसी बीच नेपोलियन तृतीय ने आस्ट्रिया पर हमला करके उसे हरा दिया। इस हार के फलस्वरूप गैरीबाल्दी की दक्षिण इटली में सैनिक कार्रवाई हुई, जिसके परिणामस्वरूप इटली सदा के लिए आजाद हो गया। ये सब बाते बिस्मार्क के अनुकूल थी, क्योकि इनसे आस्ट्रिया कमजोर पड गया। रूसी पोलैंड मे जब राष्ट्रीय विद्रोह हुआ, बिस्मार्क ने जार को यह प्रस्ताव भेजा कि यदि आवश्यकता हो तो वह पोलैंडवालो को गोली से उडा देने मे मदद देने को तैयार है। यह बडा कमीना प्रस्ताव था, मगर यूरोप की किसी भावी उलझन मे जार की सहानुभूति प्राप्त करने का उद्देश्य

इससे पूरा हो गया। आस्ट्रिया से मिलकर उसने डेनमार्क को हराया और फिर शीघ्र ही उसने आस्ट्रिया की तरफ मुह किया। इसके लिए उसने होशियारी से फ्रान्स और इटली का समर्थन प्राप्त कर लिया था। सन १८६६ मे कुछ ही समय मे प्रशिया ने आस्ट्रिया को दबा दिया। जब उसने जर्मन नेतृत्व का सवाल तय कर लिया और यह स्पष्ट कर दिया कि प्रशिया ही उसका नेता है तो फिर उसने बडी बुद्धिमानी से आस्ट्रिया के साथ उदारता का बर्ताव किया, जिससे कोई कटुता बाकी न रहे। अब प्रशिया के नेतृत्व मे एक उत्तर-जर्मन सघ बनाने का रास्ता साफ हो गया (आस्ट्रिया उसमे नही था)। बिस्मार्क इस सघ का चासलर बना। आजकल जहा हमारे कुछ राजनीतिज्ञ और कानून-विशारद महीनो और वर्षो सघो और सविधानो के बारे मे चर्चाए और दलीले किया करते है, वहा ध्यान देने की दिलचस्प बात है कि बिस्मार्क ने उत्तर-जर्मन सघ का नया सविधान पाच घटे मे लिखवा दिया था। यही सविधान, इधर-उधर के कुछ सशोधनो के साथ, पचास वर्ष तक जर्मनी का सविधान बना रहा, यानी महायुद्ध के बाद सन १९१८ मे जब गणराज्य स्थापित हुआ तबतक।

बिस्मार्क ने अपना पहला महान उद्देश्य प्राप्त कर लिया था। दूसरा कदम फ्रान्स को नीचा दिखाकर यूरोप मे अपनी प्रभुता का दरजा स्थापित करना था। इसकी तैयारी उसने चुपचाप और बिना शोरगुल मचाये की। साथ-साथ वह जर्मनी की एकता स्थापित करने का प्रयत्न करता रहा और ऐसा बर्ताव करता रहा कि अन्य यूरोपीय शक्तिया उसकी ओर से सशकित न हो जाय। पराजित आस्ट्रिया के साथ भी ऐसा नरम बर्ताव किया गया कि उसकी दुर्भावना प्राय दूर हो गई। इग्लैड फ्रान्स का ऐतिहासिक प्रतिद्वन्द्वी था और वह नेपोलियन तृतीय की महत्त्वाकाक्षाभरी योजनाओ को बड़ी शका की दृष्टि से देखता था। इस कारण फ्रान्स के विरुद्ध किसी भी सघर्ष मे इग्लैड की सद्भावना प्राप्त करना बिस्मार्क के लिए कठिन नही था। जब वह युद्ध के लिए पूरी तरह तैयार हो गया, उसने अपना खेल इतनी होशियारी के साथ खला कि वास्तव मे सन १८७० मे नेपोलियन तृतीय ने ही प्रशिया के विरुद्ध लडाई की घोषणा की! यूरोप को ऐसा लगा मानो प्रशिया की सरकार ही आक्रमणकारी फ्रान्स की बेकसूर शिकार हुई। पेरिस

के लोग "वर्लिन को ! वर्लिन को !" चिल्लाने लगे और नेपोलियन तृतीय ने अपने मन मे वडे सतोष से समझ लिया कि वह शीघ्र ही अपनी विजयी फौज के साथ सचमुच वर्लिन पहुच जायगा। मगर हुआ कुछ और ही। विस्मार्क का सधा हुआ सैनिक सगठन फ्रान्स की उत्तर-पूर्वी सरहद पर टूट पडा और उसके आगे फ्रान्स की फौज छिन्न-भिन्न हो गई। कुछ ही सप्ताहो मे सेदान नामक स्थान पर खुद सम्राट नेपोलियन तृतीय और उसकी सेना जर्मनो के हाथो कैद हुई।

इस तरह दूसरा फ्रान्सीसी साम्राज्य समाप्त हुआ और तुरन्त ही पेरिस मे गणतत्री शासन स्थापित हो गया। नेपोलियन तृतीय के पतन के कई कारण थे। मुख्य कारण यह था कि अपनी दमन-नीति की वजह से वह प्रजा मे अपनी लोकप्रियता बिल्कुल खो चुका था। विदेशो से युद्ध करके उसने जनता का ध्यान बटाने की कोशिश की, आफत मे फसे हुए बादशाहो और सरकारो का यह मुह लगा तरीका है। नेपोलियन सफल नही हुआ। हा, युद्ध ने उसकी महत्वाकाक्षा का अवश्य सदा के लिए अन्त कर दिया।

पेरिस में राष्ट्र-रक्षा की सरकार बनी। उसने प्रशिया के सामने शान्ति का प्रस्ताव रखा, मगर बिस्मार्क की शर्तें इतनी अपमानजनक थी कि लगभग सारी सेना का नाश हो जाने पर भी उन्हें लडाई जारी रखने का निर्णय करना पडा। जर्मन फौजे बहुत समय तक वर्साई मे और पेरिस के चारो तरफ घेरा डाले पडी रही। अन्त में पेरिस ने हथियार डाल दिये और नये गणराज्य ने हार मानकर, विस्मार्क की कठोर शर्तें मजूर कर ली। युद्ध के हरजाने की भारी रकम देना कवूल किया गया और जिस बात से फ्रान्स को सबसे ज्यादा चोट पहुची, वह यह थी कि अलसेस तथा लॉरेन के प्रान्त दोसौ साल से अधिक फ्रान्स के हिस्से मे रहने के बाद जर्मनी के हवाले कर देने पडे।

मगर पेरिस का घेरा उठने से पहले ही वर्साई में एक नये साम्राज्य का जन्म हो गया। सन १८७० के सितम्बर में तो नेपोलियन तृतीय के फ्रासीसी साम्राज्य का अन्त हुआ और सन १८७१ की जनवरी मे वर्साई के सोलहवे लुई के राजमहल के भव्य दीवानखाने मे सयुक्त जर्मनी की

घोषणा हुई और प्रशिया का बादशाह कैसर के नाम से सम्राट बना। जर्मनी के सब राजाओ और प्रतिनिधियो ने वहा एकत्र होकर अपने नये सम्राट कैसर को ताजीम दी। अब प्रशिया के हायनजालर्न का राजघराना एक शाही घराना बन गया और सयुक्त जर्मनी ससार की एक महान शक्ति हो गया।

इधर वर्साई मे हर्ष और उत्सव मनाया जा रहा था और उधर पास ही पेरिस में शोक और विपत्ति और पूरी जलालत छाई हुई थी। अनेक आफतो के कारण जनता हक्की-बक्की हो रही थी और कोई सुव्यवस्थित शासन नही था। राष्ट्रपरिषद मे एकतत्रवादी बडी सख्या मे चुनकर आ गये थे और ये लोग बादशाही को फिर से स्थापित करने की साजिशे कर रहे थे। उन्होने अपने रास्ते का काटा दूर करने के लिए राष्ट्रीय रक्षक दल के हथियार छीनने का प्रयत्न किया, क्योकि यह दल गणतत्रवादी समझा जाता था। नगर के सब लोकतत्रवादी और क्रान्तिकारी तत्वो को ऐसा लगा कि इसका अर्थ फिर से प्रतिगामिता और दमन है। इसलिए सन १८७१ के मार्च में विद्रोह उठ खडा हुआ और पेरिस के 'कम्यून' यानी पचायती राज्य की घोषणा की गई। यह एक तरह की म्युनिसिपैलिटी थी और इसे फ्रान्स की महान राज्यक्रान्ति से प्रेरणा मिली थी। मगर इसमे इससे ज्यादा और भी बहुत कुछ था। ज़रा अस्पष्ट रूप मे ही सही, इसमे वे समाजवादी विचारधाराएं मूर्त्तिमान थी, जो उस समय पैदा हो चुकी थी। एक तरह से यह रूस की सोवियत प्रणाली की पूर्वज थी।

मगर सन १८७१ का यह पेरिस कम्यून थोडे ही दिन टिका। एकतत्रवादियो और उच्च मध्यम-वर्ग के लोगो ने आम जनता की इस बगावत से डरकर पेरिस के उस भाग पर घेरा डाल दिया, जो कम्यून के अधिकार में था। पास ही वर्साई में और अन्य जगहो पर जर्मन सेनाएं यह सब चुपचाप देखती रही। जो फ्रान्सीसी सिपाही जर्मनो की क़ैद से छूटकर पेरिस लौटे, वे अपने पुराने अफसरो के साथ हो गये और कम्यून के विरुद्ध लडने लगे। उन्होने कम्यून के समर्थको पर धावा बोल दिया और सन १८७१ की मई के अन्त मे एक दिन उन्हे हराकर पेरिस की सडको पर तीस हजार स्त्री-पुरुषो को गोलियो से उडा दिया। बाद मे पचायत-पक्ष के अनेक पकड़े हुए लोगो को भी नृशसता के साथ गोलियो से मार दिया गया। इस तरह

पेरिस के कम्यून का अन्त हुआ। इससे यूरोप मे बडी सनसनी फैली। इस सनसनी का कारण केवल यही नही था कि पचायत का खून-खूराबी के साथ दमन कर दिया गया, बल्कि यह भी था कि यह उस समय की प्रचलित प्रणाली के विरुद्ध पहला समाजवादी विद्रोह था। गरीबो ने धनवानो के विरुद्ध हथियार तो पहले भी कितनी ही बार उठाये थे, लेकिन जिस व्यवस्था के कारण वे गरीब थे, उसे बदलने का उन्होने विचार नही किया था। यह कम्यून लोकतत्री तथा आर्थिक दोनो तरह का विद्रोह था और इस कारण यूरोप मे समाजवादी विचारधारा के विकास का यह एक निशान है। फ्रान्स मे कम्यून के अत्याचारपूर्ण दमन ने समाजवादी विचारो को नीचे धसा दिया और फिर उन्हे उभरने मे देर लगी।

यद्यपि कम्यून दबा दी गई, तथापि फ्रान्स बादशाहत के और अधिक प्रयोगो से बच गया। कुछ समय मे वह निश्चय ही गणतत्रवाद पर जम गया और सन १८७५ की जनवरी मे वहा एक नये सविधान के अन्तर्गत तीसरे गणराज्य की घोषणा की गई। फ्रान्स मे अब भी कुछ ऐसे लोग है, जो बादशाहो को चाहते है, मगर उनकी सख्या बहुत कम है और मालूम होता है कि फ्रान्स ने निश्चयपूर्वक गणराज्य को स्वीकार कर लिया है। फ्रान्स का गणराज्य उच्च मध्यम-वर्ग गणराज्य का है और उसकी बागडोर सम्पन्न मध्यम वर्गो के हाथो मे है।

फ्रान्स सन १८७०-७१ के जर्मन-युद्ध की मार से फिर पनप गया और उसने हरजाने की भारी रकम भी चुका दी, लेकिन फ्रान्स की जनता को जिस तरह ज़लील किया गया था उससे लोगो के दिलो मे गुस्सा भरा हुआ था। वे स्वाभिमानी लोग है और बातो को बहुत दिन तक याद रखते है। इसलिए बदले की भावना उन्हे सताने लगी। अलसेस और लारेन के हाथ से चले जाने का उन्हे खासतौर पर दुख था। बिस्मार्क न आस्ट्रिया को हराने के बाद उसके प्रति उदारता दिखाकर अक्लमदी की थी, लेकिन फ्रान्स के साथ उसके कठोर बर्ताव में न तो उदारता थी और न बुद्धिमानी। एक स्वाभिमानी शत्रु को नीचा दिखाने की कीमत देकर उसने उन लोगो की सदा हरी रहने-वाली शत्रुता मोल ले ली। सेदान की लडाई के बाद ही, जब यद्ध का अन्त भी नही हुआ था, कार्ल मार्क्स ने एक भविष्यवाणी की कि अलसेस पर कब्जा

करने के फलस्वरूप दोनो देशो के बीच जानी दुश्मनी पैदा होगी और स्थायी शान्ति के बजाय केवल अस्थायी सन्धि रहेगी। अन्य कई मामलो की तरह इस मामले मे भी मार्क्स की भविष्यवाणी सच्ची निकली।

जर्मनी मे अब 'शाही दीवान' बिस्मार्क ही सर्वेसर्वा था। फिलहाल तो 'खून और लोहा' की नीति सफल हो गई थी। जर्मनी ने इस नीति को स्वीकार कर लिया था और उदार विचारो की कीमत घट गई थी। बिस्मार्क की यह कोशिश थी कि सत्ता बादशाह के हाथ मे रहे, क्योकि उसे लोकतन्त्र मे कोई विश्वास नही था। जैसे-जैसे जर्मनी की औद्योगिक उन्नति होती जाती थी और मजदूर-वर्ग ज़ोर पकडता जाता था, वैसे-वैसे यह वर्ग आमूल परिवर्तनकारी मागे पेश करता और नई समस्या पैदा करता जा रहा था। बिस्मार्क ने इसका दो तरह से उपाय किया। एक तरफ वह मजदूरो की हालत सुधारता गया और दूसरी तरफ समाजवाद को कुचलता रहा। उसने सामाजिक उन्नति के कानून बनाकर मजदूरो को चारा डालकर अपने पक्ष मे करने की या कम-से-कम उन्हे उग्र बनने से रोकने की कोशिश की। इस तरह जर्मनी ने मजदूरो के लिए बुढापे की पेशने, बीमे और चिकित्सा-सम्बन्धी तथा उनकी हालत सुधारने के कानून बनाकर इस दिशा मे सबसे पहले कदम बढाया, जबकि इग्लैण्ड का उद्योग और मजदूर-आन्दोलन जर्मनी से पुराना होते हुए भी वह इस दिशा मे ज्यादा कुछ नही कर पाया था। इस नीति को कुछ सफलता तो मिली, लेकिन फिर भी मजदूरो का सगठन बढता ही गया।

मजदूरो के सगठन बढने लगे और सन १८७५ में सबने मिलकर समाजवादी लोकतन्त्री दल बनाया। बिस्मार्क समाजवाद की इस बढती को सहन नही कर सका। किसीने सम्राट की हत्या का प्रयत्न किया और बिस्मार्क को समाजवादियो पर भीषण आक्रमण करने का यह अच्छा बहाना मिल गया। सन १८७८ मे हर तरह की समाजवादी प्रवृत्तियो को दमन करनेवाले समाजवाद-विरोधी कानून बनाये गए। जहातक समाजवादियों का सम्बन्ध था, उनके लिए एक तरह का फौजी कानून जारी हो गया और हजारो को देश-निकाले का या कैद की सजाए दे दी गई। निर्वासितो में से बहुत-से लोग अमरीका चले गये और वहा जाकर समाजवाद के प्रथम प्रचारक बने। समाजवादी लोकतन्त्री दल को चोट तो सख्त लगी, मगर वह मरा

हो रही थी। थीब्स नाम के एक यूनानी शहर ने सिकन्दर का आधिपत्य नही माना और बगावत कर दी। इसपर सिकन्दर ने उसपर बडी क्रूरता और निर्दयता के साथ आक्रमण करके उस मशहूर शहर को नष्ट कर दिया, उसकी इमारते ढहा दी, बहुत-से नगर-निवासियो को कत्ल कर डाला और हजारो को गुलाम बनाकर बेच दिया। इस क्रूर बर्ताव से उसने यूनान को और भयभीत कर दिया। सिकन्दर के जीवन मे बर्बरता की यह और इसी तरह की दूसरी घटनाए ऐसी है, जिनकी वजह से सिकन्दर हमारी नजरो मे तारीफ के काबिल नही रह जाता। हमे उससे नफरत पैदा होती है और हम उससे दूर भागने की कोशिश करते है।

सिकन्दर ने मिस्र को, जो उस वक्त ईरानी बादशाह के अधीन था, आसानी से जीत लिया। इसके पहले ही वह ईरान के बादशाह तीसरे दारा को, जो क्षयार्श का उत्तराधिकारी था, हरा चुका था। बाद मे उसने ईरान पर फिर हमला किया और दारा को दूसरी बार हराया। शहशाह दारा के विशाल महल को उसने यह कहकर तहस-नहस कर दिया कि क्षयार्श ने एथेन्स को जो जलाया था, उसीका यह बदला है।

फारसी भाषा मे एक पुरानी किताब है, जो फिरदौसी नामक कवि ने एक हज़ार वर्ष हुए लिखी थी। उसे 'शाहनामा' कहते है। यह ईरान के बादशाहो का एक सिलसिलेवार इतिहास है। इसमे दारा और सिकन्दर की लडाइयो का बहुत काल्पनिक ढग से वर्णन किया गया है। उसमे लिखा है कि सिकन्दर से हार जाने पर दारा ने भारत से मदद मागी। 'हवा की तरह तेज रफ्तार से चलनेवाला ऊट-सवार' पुरु या पोरस के पास पहुचा, जो उस समय भारत के उत्तर-पश्चिम मे राज्य करता था। लेकिन पोरस उसकी जरा भी मदद न कर सका। थोडे दिनो बाद उसे खुद ही सिकन्दर के हमले का मुकाबला करना पडा। फिरदौसी के इस शाहनामे मे एक बडी दिलचस्प बात यह है कि उसमे भारत की तलवारो और कटारो का ईरानी राजाओ और सरदारो द्वारा इस्तेमाल किये जाने का बहुत काफी ज़िक्र है। इससे पता चलता है कि सिकन्दर के ज़माने मे भी भारत मे बढिया फौलाद की तलवारे बनती थी, जिनकी विदेशी मुल्को मे बडी कदर थी।

सिकन्दर ईरान से आगे बढता गया। उस इलाके को, जहा आज ईरान,

: ३३ :

# कुछ प्रसिद्ध लेखक

अक्सर कला और साहित्य से किसी राष्ट्र की आत्मा का जितना गहरा परिचय मिलता है, उतना जन-समूह की ऊपरी प्रवृत्तियों से नहीं। चेतना, कला और साहित्य हमें शान्त और गंभीर विचार के राज्य में पहुंचा देते हैं, जिसपर तत्कालीन वासनाओं तथा राग-द्वेषों का प्रभाव नहीं पड़ता। मगर आज कवि और कलाकार को भविष्य का सन्देशवाहक बहुत कम समझा जाता है और उन्हें कोई सम्मान नहीं दिया जाता। अगर उन्हें कुछ सम्मान मिलता भी है तो आम तौर पर उनकी मृत्यु के बाद मिलता है।

इसलिए मैं सिर्फ थोड़े-से नाम बताऊंगा। मैं उन्नीसवीं सदी के शुरू के हिस्से को ही लूंगा। याद रहे कि यूरोप के कई देशों के साहित्यों में उन्नीसवीं सदी की उत्कृष्ट रचनाओं के भंडार भरे हुए हैं।

नही और आगे चलकर फिर जोर पकड गया। बिस्मार्क का आतकवाद उसे मार न सका, उलटे इसकी सफलता और भी हानिकर साबित हुई। जैसे-जैसे इस दल की ताकत बढती गई इसका सगठन बहुत विशाल हो गया।

बिस्मार्क की कूटनीतिक कुशलता ने अन्त तक उसका साथ नही छोडा और उसने अपने जमाने की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे जबरदस्त खेल खेला। यह राजनीति उस समय भी और आज भी षड्यत्र, प्रति-षड्यत्र धोखा-धडी और मक्कारी का अजीब और पेचीदा जाला है और ये सब बाते छिपकर और परदे के पीछ की जाती है। अगर यह सब खुले तौर पर हो तो ज्यादा दिन नही टिक सकती। बिस्मार्क ने आस्ट्रिया और इटली को मिलाकर 'त्रिदलीय गठ-बधन" नामक गठ-बन्धन बनाया, क्योकि अब उसे फ्रान्सवालो के प्रतिशोध का भय होने लगा था। इस तरह दोनो पक्ष हथियार जमा करने, साजिशे करने और एक-दूसरे पर आखे निकालने मे लगे रहे।

सन १८८८ मे सम्राट विल्हेल्म द्वितीय के नाम से एक युवक जर्मनी का कैसर हुआ। उसके दिमाग मे यह खयाल खूब भर गया कि वह जोरदार आदमी है और बहुत जल्दी ही वह बिस्मार्क से लड पडा। इस 'लौह-पुरुष दीवान' को बुढापे मे उसके पद से बरखास्त कर दिया गया। इसपर उसे बहुत गुस्सा आया। आसू पोछने के लिए उसे 'प्रिन्स' का खिताब दे दिया गया, मगर बादशाहो के बारे मे उसका भ्रम दूर हो गया और ग्लानि के मारे वह अपनी जागीर मे एकान्तवास करने लगा। एक मित्र से उसने कहा था—"मैने जब पद सम्हाला था, मेरे पास राजभक्ति की भावनाओ का और बादशाह के प्रति श्रद्धा का बडा भडार था, लेकिन अब मुझे दु ख के साथ मालूम हो रहा है कि यह भडार दिन-पर-दिन खाली होता जा रहा है। मैने तीन बादशाहो का नगा रूप देख लिया है और यह दृश्य मुझे कुछ सुहावना नही लगा!"

यह बदमिजाज बूढा कुछ वर्ष और जिया और सन १८९८ में तिरासी वर्ष की उम्र मे मरा। कैसर के हाथो बरखास्त होने और मौत के बाद भी उसकी छाया जर्मनी पर बनी रही और उसकी आत्मा उसके उत्तराधिकारियो को प्रेरित करती रही। मगर उसके बाद आनेवाले व्यक्ति उसकी तुलना मे तुच्छ थे।

वह समाजवाद के ठेठ बाम छोर पर जा पहुचा। ज्यादातर लोग ढलती हुई उम्र के साथ कट्टरपन्थी और प्रतिगामी बनते जाते है, लेकिन ह्यू गो ने बिल्कुल उलटी ही बात की। मगर यहा तो उससे हमारा वास्ता लेखक के रूप मे है। वह महान कवि, उपन्यास-लेखक और नाटककार था।

दूसरा नाम, जिसका मै जिक्र करूगा, आरे द बालजक का है। यह भी विक्टर ह्यू गो का समकालीन था, मगर दोनो मे बडा फर्क था। यह गजब की शक्ति रखनेवाला उपन्यासकार था और छोटे-से जीवन के भीतर उसने बडी भारी सख्या मे उपन्यास लिख डाले। उसकी कहानिया एक-दूसरे से सम्बद्ध है, वे ही पात्र अक्सर उनमे आते है। उसका उद्देश्य अपने उपन्यासों मे अपने समय के पूरे फ्रान्सीसी जीवन का प्रतिबिम्ब दिखाना था और उसने सारी ग्रन्थमाला का नाम 'मानवता का प्रहसन' रखा। यह कल्पना बडी महत्वाकाक्षापूर्ण थी और यद्यपि उसने कठोर तथा वर्षो तक परिश्रम किया, पर जो जबरदस्त काम उसने उठाया था, उसे वह पूरा न कर सका।

उन्नीसवी सदी के प्रारम्भिक वर्षो मे इग्लैण्ड म तीन प्रतिभाशाली नौजवान कवियो के नाम खासतौर पर सामने आते है। ये तीनो समकालीन थे और तीनो ही कम उम्र मे एक-एक करके तीन साल के भीतर मर गये। ये कीट्स, शेली और बायरन थे। कीट्स को गरीबी और निरुत्साह से कठोर संघर्ष करना पडा और जब सन १८२१ में छब्बीस वर्ष की उम्र मे रोम मे उसकी मृत्यु हुई, लोग उसे नही जानते थे, यद्यपि उसने कुछ कविताए तो बहुत ही सुन्दर लिखी थी। कीट्स मध्यमवर्ग का था और दिलचस्प बात तो यह है कि यदि धनाभाव के कारण उसके मार्ग मे बाधा हुई तो गरीबो के लिए कवि और लेखक बनना कितना अधिक कठिन होना चाहिए!

शेली बडा ही सर्वप्रिय जीव था। युवावस्था के शुरू से ही उसके दिल में एक आग भरी थी और वह हर बात मे आजादी का हिमायती था। 'नागरिकता की आवश्यकता' पर एक निबन्ध लिखने के कारण उसे आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय से निकाल दिया गया था। कवियो के लिए जैसा खयाल किया जाता है, इसने (और कीट्स ने भी) अपना अल्पकालिक जीवन अपनी कल्पना मे और उडान मे ही रहते-रहते बिता दिया और सासारिक

हम तो उसे सबसे अधिक एक लेखक के रूप मे जानते है । उसकी सबसे प्रसिद्ध पुस्तक 'फॉस्ट' है । उसके जीवनकाल मे ही उसकी कीर्ति दूर-दूर फैल गई थी और साहित्य के अपने निजी क्षेत्र मे तो उसके देशवासी उसे देवता की तरह मानने लगे थे ।

गेटे का समकालीन शिलर नामक एक और व्यक्ति था, जो उम्र मे उससे कुछ छोटा था । यह भी एक महान कवि था । उससे भी कम उम्र का हीनरिख हीन था । यह जर्मन भाषा का एक और महान तथा प्रमोदकारी कवि था । इसने बहुत ही सुन्दर गीति-काव्य लिखे है । गेटे, शिलर और हीन—ये तीनो ही प्राचीन यूनान की उच्च श्रेणी की सस्कृति मे शराबोर थे ।

जर्मनी बहुत लम्बे समय से दार्शनिको का देश करके मशहूर रहा है । अठारहवी सदी का महान जर्मन दार्शनिक इम्मान्युएल काण्ट था । वह सदी के बदलने तक जीवित रहा । उस समय उसकी उम्र अस्सी वर्ष की थी । दर्शन के क्षेत्र मे दूसरा महान नाम हीगल का है । वह काण्ट का अनुगामी था और ऐसा माना जाता है कि साम्यवाद के जनक कार्ल मार्क्स पर उसके विचारो का बहुत प्रभाव पडा था । यह तो दार्शनिको की बात हुई ।

उन्नीसवी सदी के प्रारम्भिक वर्षों मे प्रख्यात कवि काफी सख्या मे पैदा हुए, खासकर इग्लैण्ड मे । रूस का सबसे विख्यात राष्ट्रीय कवि पुश्किन इसी समय हुआ । एक द्वन्द्व-युद्ध मे वह जवानी मे ही मारा गया । फ्रान्स मे भी कई कवि हुए, लेकिन मै सिर्फ दो के ही नामो का जिक्र करूगा । एक तो विक्टर ह्यूगो था, जिसका जन्म सन १८०२ मे हुआ था । इसने भी गेटे की तरह ही तिरासी वर्ष की उम्र पाई और गेटे की तरह यह भी अपने देश मे साहित्य के देवता की तरह माना गया । लेखक और राजनीतिज्ञ दोनो ही रूप मे उसका जीवन बडा परिवर्तनपूर्ण रहा । जीवन के प्रारम्भ में वह राजाओ का उग्र समर्थक तथा एक तरह से निरकुशता का विश्वासी था । धीरे-धीरे वह एक-एक कदम बदलता गया, यहातक कि सन १८४८ मे वह गणतन्त्रवादी बन गया । जब लुई नेपोलियन अल्पजीवी द्वितीय गणराज्य का अध्यक्ष हुआ तो उसने ह्यूगो को उसके विचारो के कारण देश से निकाल दिया । सन १८७१ मे विक्टर ह्यूगो ने पेरिस के कम्यून का पक्ष लिया । कट्टरपन्थ के ठेठ दक्षिण छोर से धीरे-धीरे, पर निश्चित रूप से, सरकता-सरकता

देखो मेरे कहते ही कहते
जाड़े की चली हवाएं ठंडी
जिनसे मरने लगे दीन बेचारे।
तुम्हें तरसते रहना है उस भोजन को
जिसको धनवाला
मतवाला हो फेंक रहा है
अपने उन मोटे कुत्तो के आगे,
जो उसकी आंखों के नीचे
छककर मस्त पड़े हैं सोते।
यही गुलामी है
जिसमें बनना है तुमको दास
आत्मा से भी,
जिससे रहे न तुमको काबू
अपनी इच्छाओं पर,
और बनो तुम वैसे
जैसा लोग दूसरे तुम्हें बनायें।
और अन्त में जब तुम
करने लगो शिकायत
धीरे-धीरे वृथा रुदन कर,
तब अत्याचारी के नौकर
तुमको औ' पत्नियों तुम्हारी को
घोड़ों के तले कुचलकर,
ओस कणों की भांति
तुम्हारे लहू की बूंदें
देते बिछा घास पर।

बायरन ने भी आजादी की प्रशंसा में सुन्दर कविताएं लिखी हैं। मगर यह आजादी राष्ट्रीय है, शेली की कविता में वर्णित आजादी की तरह आर्थिक नहीं है। वह शेली के दो वर्ष बाद तुर्की के विरुद्ध यूनान की स्वतन्त्रता के राष्ट्रीय युद्ध में मारा गया। इसे युवावस्था में ही वह ख्याति प्राप्त हो

कठिनाइयो की कुछ भी परवा न की। कीट्स की मृत्यु के साल भर बाद वह इटली के समुद्र-तट के पास डूबकर मर गया। उसकी छोटी कविताओ में से एक यहा दी जा रही है। यह उसकी सर्वोत्तम रचनाओ में से तो हरगिज नही है, लेकिन यह हमारी मौजूदा सभ्यता मे गरीब मजदूर के भीषण दुर्भाग्य को प्रकट करती है। उसका करीब-करीब वही बुरा हाल है, जो पुराने जमाने में गुलामो का होता था। इस कविता को लिखे हुए सौ वर्ष से ज्यादा हो गये है, मगर फिर भी आज की परिस्थितियो पर यह लागू होती है। इसका नाम 'अराजकता का नकाब' है।

स्वतन्त्रता क्या है ?—यह तो तुम
खूब बता सकते हो।
है क्या चीज गुलामी,
क्योकि उसका नाम
बना है नाम तुम्हारे का ही गुंजन।
यही गुलामी है
कि काम तुम करते रहो मजूरी लेकर,
केवल उतनी ही, बस जिससे
अटके रहे तुम्हारे तन में
प्राण तुम्हारे,
काल कोठरी के बन्दी की भांति
परिश्रम अत्याचारी के हित करने।
बन जाओ तुम
करघे, हल, तलवार, फावडे, उनके
औ' जुट जाओ उनकी रक्षा में
उनके पोषण में
बिना विचारे इच्छा है या नहीं तुम्हारी।
यही गुलामी है कि तुम्हारे बच्चे
भूखो मरें और उनकी माताएं
सूख-सूख कांटा हो जायें—

हम उठा के आ गये हैं,
गीत गाते हैं
रूठी सुकुमारता के,
और उस सौंदर्य के,
जो मार डाला है जिन्होंने ।
ओ पुत्र पृथ्वी के महा !
निर्माण कर उसका दुबारा,
औ' फिर सुन्दर गुणों से युक्त
तू उसको बना दे,
और कर निर्माण उसको निज हृदय में
कर प्रतिष्ठित उच्च आसन पर उसे तू !
फिर जगा तू ज्योति जीवन की,
लगा फिर दौड़ जीवन-यात्रा में,
पार कर सब विघ्न-बाधा
बज उठें प्यारी स्वरों की,
सदा से भी अधिक
सुन्दर, भावनामय ।

## : ३४ :

# चार्ल्स डार्विन

गई, जो कीट्स को और शेली को नसीब नही हुई। लन्दन के समाज ने उसे सिर पर बिठाया, लेकिन फिर नीचे भी पटक दिया।

इसी समय के आसपास दो और सुप्रसिद्ध कवि हुए। वे दोनो इस युवा-त्रिमूर्ति से ज्यादा जिये। वर्ड्सवर्थ ने सन १७७० से १८५० तक अस्सी साल की उम्र पाई। वह महान अग्रेजी कवियो मे गिना जाता है। उसे प्रकृति से बडा प्रेम था और उसका अधिकाश काव्य निसर्ग काव्य है। दूसरा कवि कॉलरिज था। उसकी कुछ कविताए बहुत अच्छी है।

उन्नीसवी सदी के शुरू मे तीन प्रसिद्ध उपन्यासकार भी हुए। वाल्टर स्काट इनमे सबसे बडा था और उसके वेवर्ली उपन्यास बहुत लोकप्रिय है। दूसरे दो उपन्यासकार थैंकरे तथा डिकन्स थे। मेरे खयाल से दोनो स्काट से कही ऊचे दर्जे के है। थैंकरे का जन्म सन १८११ मे, कलकत्ते मे हुआ था और उसने पाच-छ वर्ष यही बिताये थे। उसकी कुछ पुस्तको मे भारतीय नवावो का यथार्थ वर्णन दिया गया है। ये वे अग्रेज थे, जो अपार धनराशि जमा करके मोटे और लाल हो जाते थे और फिर मौज करने के लिए इग्लैण्ड लौट जाते थे।

उन्नीसवी सदी के शुरू के लेखको के बारे मे मै बस इतना ही लिखना चाहता हू। एक बडे विषय के लिए यह वर्णन बहुत ही तुच्छ है। इस विषय का जानकार आदमी इस बारे मे बडे चित्ताकर्षक ढग से लिख सकता है।

मै इस लेख को गेटे के 'फास्ट' से एक कविता देकर पूरा कर दूगा। अलबत्ता यह जर्मन भाषा से अनुवाद है

अफसोस है, अफसोस है !<br>
तूने किया है वार दुनिया पर,<br>
गिराया है उसे भू पर,<br>
किया है जर्जरित और<br>
नष्ट कर उसको,<br>
दिया है फेक शून्याकाश में,<br>
मानो कुचल डाला उसे<br>
दैवी किसी आघात ने।<br>
ससार के इन ठीकरो को

काबुल और समरकन्द है, पार करता हुआ वह सिन्ध नदी की उत्तरी घाटी तक पहुच गया। वहीपर उसकी उस भारतीय राजा से मुठभेड हुई, जिसने पहले उसका मुकाबला किया। यूनान के इतिहास-लेखक उसका नाम अपनी भाषा मे 'पोरस' बताते है। उसका असली नाम भी कुछ इसी तरह का रहा होगा, लेकिन हम नही जानते कि वह क्या था। कहते है कि पोरस ने बडी बहादुरी से मुकाबला किया और उसे जीतना सिकन्दर के लिए कोई आसान काम साबित नही हुआ। कहते है, वह बहुत लम्बे डील-डौल का और बड़ा बहादुर आदमी था। सिकन्दर पर उसकी हिम्मत और बहादुरी का इतना असर पडा कि हराने के बाद भी उसने पोरस को उसकी गद्दी पर कायम रखा। लेकिन अब वह राजा के बजाय यूनानियो के मातहत एक क्षत्रप यानी गवर्नर रह गया।

सिकन्दर उत्तर-पश्चिम के खैबर के दर्रे को पारकर रावलपिडी से कुछ दूर उत्तर मे तक्षशिला के रास्ते भारत में आया। आज भी इस पुराने शहर के खडहर देखने को मिल सकते है। पोरस को हराने के बाद सिकन्दर ने दक्षिण की ओर गगा की तरफ़ बढने का इरादा किया था। लेकिन बाद मे उसने ऐसा नही किया और सिन्ध नदी की घाटी मे से होकर वह वापस चला गया। यह एक दिलचस्प खयाल है कि अगर सिकन्दर भारत के अन्दर के हिस्से की तरफ बढा होता तो क्या हुआ होता। क्या उसकी विजय जारी रहती ? या भारतीय सेनाओ ने उसे शिकस्त दे दी होती ? पोरस के-से एक सरहदी राजा ने जब उसे इतना परेशान किया तो यह बहुत मुमकिन था कि मध्य-भारत के बडे-बडे राज्य सिकन्दर को रोकने के लिए काफी मज़बूत साबित होते। लेकिन सिकन्दर की इच्छा कुछ भी क्यों न रही हो, उसकी सेना ने उसे एक निश्चय पर पहुचने को मजबूर कर दिया। बरसो से घूमते-घूमते उसके सिपाही बहुत थक गये थे और ऊब गये थे। शायद भारतीय सिपाहियो के रण-कौशल का भी उनपर असर पड़ा और वे हार की जोखिम नही उठाना चाहते थे। वजह चाहे जो रही हो, सेना ने वापस लौटने की ज़िद की और सिकन्दर को राज़ी होना पडा। लेकिन वापसी का सफर बहुत मुसीबत का साबित हुआ। रसद और पानी की कमी की वजह से फौज को बहुत नुकसान पहुचा। इसके बाद ही, ईसा से

अन्य वैज्ञानिक रचना की अपेक्षा इससे सामाजिक दृष्टिकोण बदलने मे ज्यादा मदद मिली। इसने एक मानसिक भूकम्प पैदा कर दिया और डार्विन को विख्यात कर दिया।

प्रकृति-शास्त्री की हैसियत से डार्विन दक्षिण अमरीका और प्रशान्त महासागर में इधर-उधर खूब घूमा था और उसने सामग्री तथा अनुमानो का जबरदस्त जखीरा इकट्ठा कर लिया था। इसका उपयोग करके उसने यह दिखाया कि जीवो का हरएक उप-वर्ग प्राकृतिक निर्वाचन द्वारा किस प्रकार बदला और विकसित हुआ है। उस समय तक बहुत लोगो की यह धारणा थी कि मनुष्यसहित प्राणियो के प्रत्येक उप-वर्ग या प्रजाति को ईश्वर ने अलग-अलग रचा है, और सृष्टि के शुरू से ही वे अलग-अलग रहे है और उनमे कोई परिवर्तन नही हुआ है। कहने का मतलब यह कि एक प्राणी-वर्ग बदलकर दूसरा नही बन सकता। डार्विन ने ढेरो यथार्थ उदाहरण देकर साबित कर दिया कि एक वर्ग दूसरे वर्ग मे अवश्य बदलता है और विकास का यही प्राकृतिक क्रम है। ये परिवर्तन प्राकृतिक निर्वाचन द्वारा होते है। अगर किसी छोटे-से परिवर्तन से किसी प्राणी-वर्ग को कुछ भी लाभ हुआ या दूसरो के मुकाबले में जीवित रहने मे मदद मिली तो वह परिवर्तन धीरे-धीरे स्थायी हो जायगा, क्योकि यह जाहिर है कि इस परिवर्तित वर्ग के अधिक प्राणी जियेंगे। कुछ समय बाद इस परिवर्तित वर्ग का बाहुल्य हो जायगा और वह अन्य वर्गों का सफाया कर देगा। इस तरीके से एक के बाद एक रूपान्तर तथा परिवर्तन होते चले जायगे और कुछ समय बाद लगभग एक नया ही वर्ग पैदा हो जायगा। इस तरह समय पाकर प्राकृतिक निर्वाचन द्वारा योग्य-तमावशेष की इस प्रक्रिया के कारण बहुत-से नये-नये प्राणी-वर्ग पैदा होते रहेगे। यह नियम पौधो, जानवरो और मनुष्यो तक पर लागू होगा। इस मत के अनुसार यह सम्भव है कि आज वनस्पति तथा जानवरो के जो विभिन्न वर्ग दिखाई दे रहे है, उन सबका कोई एक ही पूर्वज रहा होगा।

कुछ ही वर्ष बाद डार्विन ने अपनी दूसरी पुस्तक 'मनुष्य का अनुवश' (इवोल्यूशन ऑव मैन) प्रकाशित की, जिसमे उसने यही मत मनुष्य-जाति पर लागू करके दिखाया। क्रम-विकास और प्राकृतिक निर्वाचन का यह विचार अब ज्यादातर लोगो ने मान लिया है, यद्यपि ठीक उसी रूप मे नही

माना ह, जिसमे डार्विन और उसके अनुयायियो ने इसे प्रतिपादित किया था। वास्तव मे जानवरो की नस्ल सुधारने तथा पौधो, फलो और फूलो के उगाने मे निर्वाचन के इस नियम का व्यावहारिक प्रयोग लोगो के लिए एक साधारण चीज हो गया है। आजकल के अनेक इनामी जानवर और पौधे कृत्रिम उपायो से पैदा किये हुए नये उप-वर्ग ही तो है। अगर मनुष्य अपेक्षाकृत थोडे-से समय मे इस तरह के परिवर्तन तथा नये उप-वर्ग पैदा कर सकता है तो लाखो और करोडो वर्षो के समय में प्रकृति इस दिशा मे क्या-क्या नही कर सकी होगी? लन्दन के साउथ केनसिंगटन म्यूजियम जैसे किसी प्रकृति-विज्ञान-सम्बन्धी सग्रहालय को देखने से पता चलता है कि किस तरह वनस्पति और प्राणी निरन्तर अपनेको प्रकृति के अनुकूल बनाते जा रहे है।

आज ये सब बातें हमें स्वत सिद्ध-सी नजर आती है। लेकिन सत्तर वर्ष पहले यह स्थिति नही थी। उस वक्त पश्चिम के ज्यादातर लोगो का यही विश्वास था कि बाइबिल के वर्णन के अनुसार सृष्टि की उत्पत्ति ईसा मसीह से ठीक ४००४ वर्ष पूर्व हुई थी और हरएक पेड और जानवर अलग-अलग पैदा किया गया था और सबसे अन्त मे मनुष्य बनाया गया था। वे मानते थे कि जल-प्रलय हुआ था और नूह की नाव मे सारे जानवरो के जोडे इसलिए रखे गये थे कि किसी भी प्राणी-वर्ग का लोप न हो जाय। ये सब बातें डार्विन के मत से मेल नही खाती थी। डार्विन और भूगर्भ-शास्त्री लोग जब पृथ्वी की आयु का जिक्र करते थे तो ६,००० वर्ष के अल्पकाल के बजाय करोडो वर्षो की बात करते थे। इस तरह लोगो के दिमाग मे जबरदस्त खींच-तान मची हुई थी और बहुत-से भूले आदमियो को यह नही समझ पडता था कि क्या करें। उनकी पुरानी श्रद्धा उन्हे एक बात मानने को कहती थी और उनका विवेक दूसरी। जब मनुष्य रूढियो मे अन्ध-विश्वास रखते है और उन रूढियो को धक्का लगता है तो वे अपने-आपको दुखी और असहाय महसूस करते है और खडे होने के लिए उन्हें कही ठोस धरती दिखाई नही देती। मगर जिस धक्के से हमें यथार्थ का ज्ञान हो, वह अच्छा होता है।

बस इंग्लैण्ड और यूरोप के अन्य देशो मे विज्ञान और धर्म के बीच बडा वाद-विवाद और संघर्ष हुआ। इसके परिणाम के बारे मे तो कोई संदे-

ही नही हो सकता था। उद्योग और यत्र-विज्ञान की नई दुनिया का दारोमदार विज्ञान पर था, इस कारण विज्ञान को छोडा नही जा सकता था। विज्ञान की बराबर विजय होती चली गई और 'प्राकृतिक निर्वाचन' तथा 'योग्यतमावशेष' न्याय लोगो की साधारण शब्दावली में आगये और वे इनका अर्थ पूरी तरह समझे विना ही इन वाक्याशो का उपयोग करने लगे।

डार्विन ने अपनी 'मनुष्य का अनुवश' मे यह बताया था कि मनुष्य और कुछ बन्दर-जातियो का पूर्वज शायद एक ही रहा होगा। यह बात विकास-क्रिया की अलग-अलग सीढियो के उदाहरण देकर सावित नही की जा सकती थी। इसीसे 'खोई हुई कडी' का आम मजाक चल पडा और विचित्र बात यह हुई कि शासक-वर्गो ने भी डार्विन के मत को तोड-मरोडकर उससे अपनी सुविधा का अर्थ निकाल लिया। उनका पक्का विश्वास हो गया कि इस मत से उनकी श्रेष्ठता का एक प्रमाण और भी मिल गया। जीवन-सग्राम मे सबसे योग्य होने के कारण वे वच गये थे, इसलिए 'प्राकृतिक निर्वाचन' के द्वारा वे सबके ऊपर आ गये और शासक-वर्ग बन गये। एक वर्ग का दूसरे वर्ग पर या एक जाति का दूसरी जाति पर प्रभुत्व करन के पक्ष मे यह एक बहाना बन गया। साम्राज्यवाद और गोरी जातियो की सर्वोपरिता की यह निर्णायक दलील हो गई और पश्चिम के वहुत लोग समझने लगे कि दूसरो पर जितनी ज्यादा धौस जमायेगे और जितने ज्यादा क्रूर और बलवान बनकर रहेगे, मानव-जीवन के मूल्यो के क्रम मे उनका दर्जा उतना ही ऊचा होना सम्भव है। यह दार्शनिक विचारधारा भली नही है। मगर इससे एशिया और अफरीका मे पश्चिम की साम्राज्यवादी शक्तियो के रवैये का रहस्य कुछ-कुछ समझ मे आ जाता है।

आगे चलकर अन्य वैज्ञानिको ने डार्विन के मत की आलोचना की है लेकिन उसके व्यापक विचार आज भी सही माने जाते है। उसके मत की व्यापक स्वीकृति का एक नतीजा यह हुआ कि लोगो का प्रगति के विचार मे विश्वास हो गया। इस विचार का यह अर्थ था कि यह मनुष्य, समाज तथा ससार पूर्णता की ओर बढ रहे है और दिन-पर-दिन सुधरते जा रहे है। प्रगति की यह कल्पना केवल डार्विन के ही मत का परिणाम नही थी।

वैज्ञानिक खोज की सारी प्रवृत्ति ने और औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप तथा उसके बाद पैदा होनेवाले परिवर्तनो ने लोगो का दिमाग इसके लिए तैयार कर दिया था। डार्विन के मत ने इसकी पुष्टि कर दी और लोग कल्पना करने लगे की मानवीय पूर्णता का लक्ष्य कुछ भी हो, वे विजय-पर-विजय प्राप्त करते हुए अभिमान के साथ उसकी तरफ बढ रहे है। ध्यान देने की बात यह है कि प्रगति की यह कल्पना बिल्कुल नई थी। गुजरे हुए जमाने मे यूरोप, एशिया या पुरानी किसी भी सभ्यता मे भी ऐसी कोई कल्पना रही हो, ऐसा नही लगता। यूरोप मे ठेठ औद्योगिक क्रान्ति तक लोग भूतकाल को आदर्श काल मानते थे। यूनान और रोम की उत्कृष्ट रचनाओ का पुराना जमाना बाद के जमानो से अधिक श्रेष्ठ, समुन्नत तथा सुसस्कृत माना जाता था। लोग ऐसा समझने लगे थे कि मनुष्य-जाति का क्रमागत ह्रास या पतन होता जा रहा है, या कम-से-कम कोई स्पष्ट परिवर्तन नही हो रहा है।

भारत मे भी ह्रास की तथा विगत स्वर्णयुग की लगभग ऐसी ही धारणा है। भारतीय पुराण भी समय की गणना भौगर्भिक युगो की तरह दीर्घकालीन युगो मे करते है, परन्तु वे सतयुग से शुरू करके कलियुग के वर्तमान अधर्म युग पर आते है।

इसलिए हम देखते है मानव-प्रगति की कल्पना बिल्कुल आधुनिक है। प्राचीन इतिहास का हमे जैसा कुछ ज्ञान है, उससे हमे इस कल्पना मे विश्वास होता है। लेकिन हमारा ज्ञान अभी बहुत परिमित है और सम्भव है, इस ज्ञान मे वृद्धि होने पर हमारा दृष्टिकोण बदल जाय। उन्नीसवी सदी के उत्तरार्द्ध मे इस 'प्रगति' की बाबत जितना उत्साह था, उतना तो आज भी नही रहा है। अगर प्रगति का नतीजा यही हो कि पिछले महायुद्ध की तरह हम एक-दूसरे को बडे पैमाने पर नष्ट करें तब तो ऐसी प्रगति मे कुछ-न-कुछ खराबी है। दूसरी बात यह याद रखने की यह है कि डार्विन के 'योग्यतमावशेष' न्याय का जरूरी अर्थ यह नही है कि जीवन-सग्राम मे श्रेष्ठतम ही अवशेष रहता है। ये सब तो विद्वानो के अनुमान है। हमारे ध्यान मे रखने की बात तो सिर्फ यह है कि अचल या अपरिवर्तनशील या पतनशील समाज के पुराने और व्यापक विचार को उन्नीसवी सदी मे आधुनिक विज्ञान ने एक तरफ धकेल दिया और उसकी जगह पर यह विचार फैल गया कि समाज गति-

शील और परिवर्तनशील है। इसके साथ ही प्रगति का विचार भी पैदा हुआ और इसमे सन्देह नही कि इस जमाने मे समाज वास्तव मे इतना बदल गया है कि उसे पहचाना नही जा सकता।

जब मै डार्विन का प्राणी-वर्गो के मूल का मत बता रहा हू, तो यह जानना और भी दिलचस्प होगा कि इस विषय मे एक चीनी दार्शनिक ने २,५०० वर्ष पहले क्या लिखा था। उसका नाम त्सोन-त्से था और उसने ईसा से छ सौ वर्ष पहले, बुद्धकाल के आस-पास लिखा था

"सब प्राणी-वर्गो की उत्पत्ति एक ही वर्ग से हुई है। इस अकेले मूल वर्ग मे धीरे-धीरे तथा निरन्तर परिवर्तन होते गये, जिसके फलस्वरूप प्राणियो के विभिन्न रूप प्रकट हुए। इन प्राणियो मे तुरन्त ही विभिन्नता नही पैदा हुई थी, बल्कि इसके विपरीत उन्होने अपनी भिन्नताए पीढी-दर-पीढी धीरे-धीरे होनेवाले परिवर्तनो से प्राप्त की थी।"

यह सिद्धान्त डार्विन के सिद्धान्त से काफी मिलता-जुलता है और यह चकित करनेवाली बात है कि यह पुराना चीनी प्राणी-शास्त्री ऐसे परिणाम पर पहुच गया, जिसकी फिर से खोज करने मे ससार को ढाई हजार साल लग गये।

जैसे-जैसे उन्नीसवी सदी प्रगति करती गई, वैसे-वैसे परिवर्तनो की गति भी तेज होती गई। विज्ञान ने चमत्कार-पर-चमत्कार प्रकट किये और खोज तथा आविष्कार के कभी समाप्त न होनेवाले भव्य दृश्य से लोगो की आखे चौंधिया गई। इनमे से तार, टेलीफोन, मोटर और फिर हवाई जहाज-जैसे कितने ही आविष्कारो ने जनता के जीवन मे महान परिवर्तन कर दिया है। विज्ञान ने दूर-से-दूर आकाश, अदृश्य परमाणु और उसके भी छोटे हिस्सो को नापने की हिम्मत की। उसने मनुष्य की थकानेवाली मशक्कत कम कर दी और करोडो का जीवन सुभीते का हो गया। विज्ञान के कारण दुनिया की और खासकर औद्योगिक देशो की आबादी मे जबरदस्त वृद्धि हो गई। साथ ही विज्ञान ने विनाश के पूरे कामिल साधन भी तैयार कर डाले। मगर इसमे विज्ञान का दोष नही था। इसने तो प्रकृति पर मनुष्य का काबू बढा दिया, मगर इस तमाम शक्ति को प्राप्त करके मनुष्य यह नही जान पाया कि अपने ऊपर काबू कैसे किया जाता है। इसलिए उसने अनुचित

व्यवहार किया और विज्ञान की देन को व्यर्थ गवा दिया। लेकिन विज्ञान की यह विजय-यात्रा जारी रही और उसने डेढसौ साल के भीतर ही दुनिया की काया ऐसी पलट दी, जैसी पिछले तमाम हजारो वर्षो मे भी नही हो पाई थी। सचमुच विज्ञान ने हर दिशा मे और जीवन के हर विभाग मे ससार-व्यापी क्रान्ति कर दी है।

विज्ञान की यह प्रगति अब भी चल रही है और वह पहले से भी ज्यादा तेजी से दौडता नजर आ रहा है। उसके लिए कोई विश्राम नही है। एक रेल-मार्ग बनता है, मगर जबतक उसके चालू होने का समय आता है तबतक वह समयानुकूल ही नही रह जाता है। एक मशीन खरीदकर खडी की जाती है कि एक-दो साल मे ही उसी तरह की उससे बढिया और ज्यादा कारगर मशीने बनने लगती है। बस, यह बेतहाशा दौड़ चलती रहती है।

## : ३५ :

# लोकतंत्र के प्रतिपादक

अठारहवी सदीके उत्तरार्द्ध मे इग्लैण्ड मे एक मार्के की पुस्तक निकली। यह ऐडम स्मिथ की 'राष्ट्रो की सम्पत्ति' (वेल्थ ऑव नेशन्ज़) थी। यह पुस्तक राजनीति पर नही थी, बल्कि राजनैतिक अर्थशास्त्र पर थी। उस समय के अन्य सब विषयो की तरह यह विषय भी धर्म और नीति के साथ मिला हुआ था और इसलिए इसके बारे में बडा घपला था। ऐडम स्मिथ ने इस विषय का वैज्ञानिक ढग से विवेचन किया और तमाम नैतिक उलझनो की उपेक्षा करके अर्थशास्त्र का सचालन करनेवाले स्वाभाविक नियमो का पता लगाने की कोशिश की। अर्थशास्त्र इस बात की विवेचना करता है कि लोगो के या किसी समूचे देश की आय और व्यय की व्यवस्था कैसे की जाती है, वे क्या पैदा करते है और क्या उपभोग करते है, और आपस मे तथा दूसरे देशो और जातियो के साथ उनके क्या सबध है। ऐडम स्मिथ का विश्वास था कि ये सारी विशेष जटिल प्रक्रियाए कुछ निश्चित स्वाभाविक नियमों के अनुसार होती है और इन नियमो का उसने अपनी पुस्तक मे उल्लेख किया। उसका यह भी विश्वास था कि उद्योग-धंधो के

विकास के लिए पूरी स्वतन्त्रता दी जानी चाहिए, जिससे इन नियमो म खलल न पडे। उस समय फ्रान्स मे जो नये लोकतत्री विचार अकुरित हो रहे थे, उनसे ऐडम स्मिथ की पुस्तक का कोई वास्ता न था। परन्तु मनुष्यो तथा राष्ट्रो पर प्रभाव डालनेवाली एक अत्यन्त महत्वपूर्ण समस्या के वैज्ञानिक निरूपण का उसका प्रयत्न जाहिर करता है कि लोग हर चीज को पुरानी धर्मशास्त्रीय दृष्टि से देखना छोडकर एक नई दिशा में जा रहे थे। ऐडम स्मिथ अर्थशास्त्र के विज्ञान का जन्मदाता माना जाता है और उसने उन्नीसवी सदी के अनेक अग्रेज अर्थशास्त्रियो को प्रेरणा दी है।

अर्थशास्त्र का यह नया विज्ञान प्रोफेसरो तक तथा कुछ सुपठित लोगो तक ही सीमित रहा। लेकिन इसी बीच नये लोकतन्त्री विचार फैल रहे थे और अमरीका तथा फ्रान्स की राज्य-क्रान्तियो ने उन्हे खूब ही लोकप्रिय बनाया और उनका जबरदस्त प्रचार किया। अमरीका की स्वाधीनता की घोषणा तथा फ्रान्स की अधिकारो की घोषणा के लच्छेदार शब्दो और वाक्याशो ने लोगो के दिलो मे गहरी हलचल मचा दी। इनसे करोडो पीडितो और शोषितो के दिल फडक उठे और उनके लिए ये मुक्ति का सदेश लेकर आये। दोनो घोषणाओ मे हर आदमी की स्वतन्त्रता का और समानता का और सुखी रहने के हक का उल्लेख था। लेकिन इन प्राणप्रिय अधिकारो की अभिमान-पूर्ण जोरदार घोषणा से ही लोगो को ये प्राप्त नही हो गये। आज इन घोषणाओ के डेढसौ वर्ष बाद भी यह कहा जा सकता है कि इन अधिकारो का उपभोग करनेवालो की सख्या नही के बराबर है। लेकिन इन सिद्धान्तो की घोषणा ही एक असाधारण और जीवन देनेवाली बात थी।

अन्य देशो की तरह यूरोप मे भी तथा अन्य धर्मो की तरह ईसाई धर्म मे भी पुरानी धारणा यह थी कि पाप और दुख सभी मनुष्यो को अनिवार्य रूप से भोगने पडते है। धर्म ने मानो इस ससार मे दरिद्रता तथा मुसीबत को एक स्थायी और यहातक कि प्रतिष्ठित आसन दे दिया था। धर्म के प्रलोभन और पुरस्कार तमाम किसी परलोक के लिए थे, यहा तो हमे यही उपदेश दिया जाता था कि सतोष के साथ अपने भाग्य के भोगो को बरदाश्त करते रहे और किसी मौलिक परिवर्तन के पीछे न पडे। दान-पुण्य, यानी गरीबो को टुकडे डालने की वृत्ति को प्रोत्साहित किया जाता था, मगर गरीबी

या गरीबी पदा करनेवाली प्रणाली का नाश करने की कोई कल्पना नही थी। स्वतन्त्रता और समानता के तो विचार ही चर्च और समाज के अधिकारवादी दृष्टिकोण के विरोधी थे।

लोकतत्रवाद का यह तो कभी कहना नही था कि सब मनुष्य यथार्थ मे समान है। वह ऐसा कह भी नही सकता था, क्योकि यह तो स्पष्ट ही है कि मनुष्य-मनुष्य के बीच असमानताए होती है—शारीरिक असमानताए, जिनके कारण ही कुछ लोग दूसरो से बलवान होते है, मानसिक असमानताए, जो कुछ लोगो के दूसरो से अधिक योग्य तथा बुद्धिमान होने मे दिखाई देती है; और नैतिक असमानताए, जो कुछको स्वार्थी बनाती है और कुछको नही। यह बिल्कुल सम्भव है कि इनमे बहुत-सी असमानताए भिन्न-भिन्न प्रकार के भरण-पोषण तथा शिक्षा के कारण अथवा अशिक्षा के कारण होती हो। दो समान योग्यतावाले लडको या लडकियो मे से एक को अच्छी शिक्षा दो और दूसरे को बिल्कुल न दो तो कुछ वर्ष बाद दोनो मे जबरदस्त अतर हो जायगा। या एक को स्वास्थ्यप्रद भोजन दो और दूसरे को खराब और नाकाफी भोजन दो तो पहले की ठीक वृद्धि होगी और दूसरा कमजोर, रोगी और दुबला-पतला रहेगा। इसलिए भरण-पोषण, वातावरण, तालीम और शिक्षा मनुष्य मे भारी भेद पैदा कर देते है और हो सकता है कि अगर सबको एक ही तरह की तालीम और सुविधाएं मिले तो असमानता आज से बहुत कम हो जाय। वास्तव में यह बहुत सम्भव है। लेकिन जहातक लोकतत्रवाद का सम्बन्ध है, वह मानता है कि यथार्थ मे मनुष्य असमान होते है, और फिर भी वह कहता है कि हरएक मनुष्य के साथ ऐसा बरताव किया जाना चाहिए, मानो उसका राजनैतिक और सामाजिक महत्व सबके बराबर है। यदि इस लोकतत्री सिद्धान्त को पूरी तरह मान ले तो हम तरह-तरह के क्रान्तिकारी नतीजो पर पहुच जाते है। इस सिद्धान्त से स्वाभाविक परिणाम यह निकला कि शासन-सभा या पार्लमेण्ट के लिए चुनाव मे हर व्यक्ति को वोट देने का अधिकार होना चाहिए। वोट देने का अधिकार राजनैतिक सत्ता का प्रतीक है और यह मान लिया गया है कि अगर हर आदमी को वोट का अधिकार हो तो उसे राजनैतिक सत्ता में बराबर का हिस्सा मिल जायगा। बालिग-मताधिकार का अर्थ यह है कि हर बालिग व्यक्ति को

वोट देने का अधिकार हो। बहुत समय तक स्त्रियो को वोट देने का अधिकार नही था, और बहुत दिन नही हुए, जब स्त्रियो ने, खासतौर पर ब्रिटेन मे, इस बारे मे जबरदस्त आन्दोलन किया था। अधिकाश उन्नत देशो मे आजकल स्त्रियो और पुरुषो दोनो को बालिग-मताधिकार प्राप्त है।

मगर विचित्र बात यह हुई कि जब ज्यादातर लोगो को वोट का अधिकार मिल गया, तब उन्हे मालूम पडा कि इससे उनकी हालत में कोई बडा अन्तर नही हुआ। वोट का अधिकार मिल जाने पर भी राज्य में या तो उन्हे कुछ भी सत्ता नही मिली या बहुत ही थोडी मिली। भूखे आदमी को मताधिकार किस काम का? असली सत्ता तो उन लोगो के हाथो मे रही, जो उसकी भूख से फायदा उठा सकते थे और उसे मजबूर करके अपने फायदे का कोई भी मनचाहा काम उनसे करा लेते थे। बस, वोट के अधिकार से जिस राजनैतिक सत्ता के मिलने का खयाल था, वह बिना असलियत की परछाई और आर्थिक सत्ता-रहित साबित हुई। शुरू के लोकतन्त्रवादियो के वे रौनकदार सपने कि मताधिकार मिलते ही समानता आ जायगी, विलीन हो गये।

मगर यह बात तो बहुत आगे चलकर पैदा हुई। शुरू के दिनो में, यानी अठारहवी सदी के अन्त और उन्नीसवी के शुरू में, लोकतन्त्रवादियो में बडा जोश था। लोकतन्त्र सबको आजाद और समान नागरिक बनानेवाला था और सरकार तथा राज्य सबके सुख का उपाय करनेवाले! अठारहवी सदी के बादशाहो और सरकारो ने जैसी मनमानी चलाई थी और अपनी निरकुश सत्ता का जैसा दुरुपयोग किया था, उसके विरुद्ध बडी प्रतिक्रिया हुई। इससे इन लोगो को अपनी घोषणाओ में व्यक्तियो के अधिकारो का भी ऐलान करना पडा।

इग्लैण्ड, जो अठारहवी सदी में राजनैतिक विचारो में पिछडा हुआ था, अमरीका और फ्रान्स की राज्यक्रान्तियो से बहुत प्रभावित हुआ। उसपर पहली प्रतिक्रिया तो इस भय की हुई कि नये लोकतन्त्री विचारो से देश में सामाजिक क्रान्ति न हो जाय। शासक-वर्ग पहले से भी ज्यादा कट्टर और प्रतिगामी हो गये। फिर भी पढ़े-लिखे दिमाग के लोगो में नये विचार फैलते गये। टामस पेन इस जमाने का एक आकर्षक अग्रेज हुआ। स्वाधीनता के युद्ध के समय वह अमरीका मे था और उसने अमरीकावासियो की मदद

की थी। मालूम होता है कि अमरीकी लोगो का विचार पूर्ण स्वाधीनता के पक्ष मे बदल देने मे इसका भी कुछ हाथ था। इग्लैण्ड लौटने पर उसने फ्रान्स की राज्य-क्रान्ति के समर्थन मे 'मनुष्य के अधिकार' (राइट्स ऑव मैन) नामक पुस्तक लिखी। इस पुस्तक मे उसने एकतत्री शासन पर हमला किया और लोकतत्र की हिमायत की। इसके कारण ब्रिटिश सरकार ने उसे बागी घोषित कर दिया और उसे भागकर फ्रान्स चला जाना पडा। पेरिस मे वह बहुत जल्द राष्ट्र परिषद का सदस्य बन गया, मगर सन १७९३ मे जैकोबिन लोगो ने उसे कैद कर दिया, क्योकि उसने सोलहवें लुई के वध का विरोध किया था। पेरिस के जेलखाने मे उसने 'तर्क का युग' (दि एज ऑव रीजन) नाम की दूसरी पुस्तक लिखी। इसमे उसने धार्मिक दृष्टिकोण की आलोचना की। रोबसपीयरी की मृत्यु के बाद उसे पेरिस जेल से छोड दिया गया। चूकि पेन अग्रेजी अदालतो की सीमा के बाहर था, इसलिए इस पुस्तक को छापने के अपराध में उसके अंग्रेज प्रकाशक को कैद की सजा दे दी गई। ऐसी पुस्तक समाज के लिए खतरनाक समझी गई, क्योकि गरीबो को जहा-का-तहा रखने के लिए धर्म जरूरी माना जाता था। पेन की पुस्तक के कई प्रकाशक जेल भेज दिये गए। इनमे स्त्रिया भी थी। यह दिलचस्प बात है कि कवि शेली ने इस सजा के विरोध मे न्यायाधीश को एक पत्र लिखा था।

उन्नीसवी सदी के सारे पूर्वार्द्ध मे जो लोकतत्री विचार फैले, यूरोप मे उनकी जन्मदात्री फ्रान्स की राज्यक्रान्ति थी। परिस्थितिया जल्दी-जल्दी बदल रही थी, फिर भी क्राति के विचार वास्तव मे बने ही रहे। ये लोकतत्री विचार बादशाहो के तथा निरंकुशता के विरुद्ध बौद्धिक प्रतिक्रिया थे। लेकिन लोगो के लिए पुराने विचार छोडना और नये ग्रहण करना असाधारण तौर पर कठिन होता है। वे अपनी आखो और अपने दिमागो को बन्द कर लेते है और देखने से ही इन्कार कर देते है और पुरानी बातो से उन्हे नुकसान पहुचता हो तो भी उनसे चिपके रहने के लिए लडते है। रूढियो की बडी जबरदस्त शक्ति होती है। अपनेको बहुत उन्नतिशील समझनेवाले वामपक्षी लोग भी अक्सर पुराने और थोथे विचारो से चिपके रहते है और बदलती हुई परिस्थितियो की तरफ से आखे मूद लेते है। कोई ताज्जुब नही कि प्रगति धीमी पड़ जाती है और अक्सर करके वास्तविक

परिस्थितिया लोगो के विचारो से बहुत पीछे रह जाती है, जिसका नतीजा यह होता है कि क्रान्तिकारी अवस्थाए पैदा हो जाती है।

बीसियो वर्षो तक लोकतत्रवाद का काम केवल फ्रान्स की राज्य-क्रान्ति के विचारो और परम्पराओ को जारी रखना ही रहा। लोकतन्त्रवाद ने अपने-आपको नई परिस्थितियो मे नही ढाला। इसका परिणाम यह हुआ कि सदी का अन्त होते-होते वह कमजोर पड गया और बाद मे बीसवी सदी मे तो बहुतो ने उसे अस्वीकार ही कर दिया।

शुरू के लोकतत्रवादियो का बुद्धिवाद की शरण मे जाना स्वाभाविक था। विचार और भाषण की स्वतत्रता की उनकी माग का रूढिवादी धर्म तथा धर्म-शास्त्रवाद के साथ समझौता होना असम्भव था। इस तरह लोकतत्रवाद और विज्ञान ने मिलकर धर्मशास्त्रीय रूढियो का शिकजा ढीला किया। लोग बाइबिल की भी परीक्षा करने का साहस करने लगे, मानो वह एक साधारण पुस्तक थी और ऐसी चीज नही थी, जिसे बिना शका के अधभक्ति के साथ स्वीकार कर लिया जाय। बाइबिल की इस आलोचना को 'ऊचे दरजे की आलोचना' कहा गया। इन आलोचको ने यह नतीजा निकाला कि बाइबिल अलग-अलग युगो के विभिन्न व्यक्तियो के लेखो का सग्रह है। उनका यह भी मत था कि ईसा का कोई धर्म-सस्थापन करने का इरादा नही था। इस आलोचना से कितने ही पुराने विश्वास हिल गये।

जैसे-जैसे विज्ञान और लोकतत्री विचारो के कारण पुरानी धार्मिक नीवे कमजोर होती गई, वैसे-वैसे पुराने धर्म की जगह बिठाने के लिए एक नया दर्शन रचने के प्रयत्न किये गए। ऐसा ही एक प्रयत्न आगस्त काम्ते नामक फ्रान्सीसी दार्शनिक ने किया था। इसका समय सन १७९८ से १८५७ तक है। काम्ते ने महसूस किया कि पुराने धर्म-शास्त्रवाद तथा पुराणपन्थी धर्म का समय जाता रहा, मगर उसे यह भी विश्वास हो गया कि समाज को किसी-न-किसी धर्म की आवश्यकता जरूर है। इसलिए उसने 'मानव-धर्म' का प्रस्ताव किया और उसका नाम प्रत्यक्षवाद रखा। इसके आधार प्रेम, व्यवस्था और उन्नति रखे गये। इसमे कोई बात अलौकिक नही थी, इसका आधार विज्ञान था। उन्नीसवी सदी की अन्य सब प्रचलित विचार-धाराओ की तरह इस विचारधारा के पीछे भी मानव-जाति की तरक्की की

कल्पना थी। काम्ते के धर्म पर कुछ गिने-चुने दिमागी लोगो का ही विश्वास रहा, मगर यूरोप के विचारो पर उसका व्यापक असर खूब पडा। मानव-समाज तथा संस्कृति की विवेचना करनवाले समाजशास्त्र के विज्ञान का अध्ययन इसीका प्रारम्भ किया हुआ समझना चाहिए।

अग्रेज दार्शनिक और अर्थशास्त्री जॉन स्टुअर्ट मिल (सन १८०६-१८७३) काम्ते का समकालीन था, मगर वह काम्ते की मृत्यु के बहुत वर्ष बाद तक जीवित रहा। मिल पर काम्ते की विवेचना तथा समाजवादी विचारो का प्रभाव पडा था। ऐडम स्मिथ की विवेचनाओ को केन्द्र मानकर राजनैतिक अर्थशास्त्र का जो पन्थ इग्लैण्ड मे वन गया था, उसे मिल ने नई दिशा मे ले जाने का प्रयत्न किया और उसने आर्थिक विचारो मे कुछ समाजवादी सिद्धान्तो का प्रवेश कराया। मगर उसकी सबसे ज्यादा ख्याति उपयोगिवाद के आचार्य के रूप मे है। उपयोगितावाद का सिद्धान्त नया था, जो इग्लैण्ड मे चल तो कुछ समय पहले ही चुका था, मगर उसे अधिक महत्व दिया मिल ने। जैसाकि इसके नाम से पता चता है, इसका निर्देशक तत्वज्ञान 'उपयोग' था। उपयोगितावादियो का मौलिक सिद्धान्त था "अधिकतम लोगो का अधिकतम सुख"। भलाई-बुराई की केवल यही कसौटी थी। जो काम जितना ज्यादा सुख बढानेवाला होता, वह उतना ही अच्छा कहा जाता और जो जितना दुख बढाता, वह उतना ही बुरा माना जाता। समाज और सरकार का सगठन ज्यादा-से-ज्यादा लोगो के सुख मे ज्यादा-से-ज्यादा वृद्धि करने की दृष्टि से होना उचित माना गया। यह दृष्टिकोण पहलेवाले सबको बराबर अधिकार के लोकतन्त्रवादी सिद्धान्त से भिन्न था। ज्यादा-से-ज्यादा लोगो के ज्यादा-से-ज्यादा सुख के लिए थोड-से लोगो के बलिदान की या क्लेश की जरूरत हो सकती है। इस तरह लोकतत्र का अर्थ बहुमत के अधिकार माना जाने लगा।

जॉन स्टुअर्ट मिल व्यक्ति की स्वतन्त्रता के लोकतत्री विचार का जोरदार प्रतिपादक था। उसने 'स्वतत्रता पर' ( ऑन लिबर्टी ) नामक एक छोटी-सी पुस्तक लिखी, जो प्रसिद्ध होगई। इस पुस्तक मे भाषण की स्वतत्रता का तथा विचारो की स्वतत्र अभिव्यक्ति का समर्थन किया गया है।

२३२ साल पहले, सिकन्दर बाबल पहुचकर मर गया। ईरान पर हमला करने के लिए रवाना होने के बाद वह अपनी मातृ-भूमि को फिर नही देख पाया।

इस तरह सिकन्दर तेतीस बरस की उम्र मे मर गया। इस 'महान' आदमी ने अपनी छोटी-सी ज़िन्दगी मे क्या किया ? इसने कुछ शानदार लडाइया जीती। इसमे कोई शक नही कि वह बहुत बडा सेनानायक था। लेकिन साथ ही वह अभिमानी और घमडी भी था और कभी-कभी बहुत निर्दयी और उग्र हो जाता था। अपनेको वह देवता के बराबर समझता था। क्रोध के आवेश मे या क्षणिक उन्माद मे उसने अपने कई सच्चे दोस्तो को कत्ल कर दिया और बडे-बडे शहरो को, उनके रहनेवालो समेत, नष्ट कर डाला। अपने बनाये साम्राज्य मे अपने पीछे वह कोई भी ठोस चीज, यहातक कि अच्छी सडके भी, नही छोड गया। आकाश के टूटनेवाले तारे की तरह वह एकदम चमका और गायब हो गया, और अपने पीछे अपनी स्मृति के अलावा और कुछ भी नही छोड गया। उसकी मौत के बाद उसके कुटुम्ब के लोगो ने एक-दूसरे को कत्ल कर दिया और उसका महान साम्राज्य टुकडे-टुकडे हो गया। सिकन्दर को ससार-विजयी कहा जाता है और कहते है कि एक बार वह बैठा-बैठा इसलिए रो उठा कि उसके जीतने के लिए दुनिया मे कुछ बाकी नही बचा था। लेकिन सच तो यह है कि उत्तर-पश्चिम के कुछ हिस्से को छोडकर वह भारत को ही नही जीत सका था। चीन उस वक्त भी बहुत बडा राज्य था और सिकन्दर उसके नजदीक तक भी नही पहुच पाया था।

उसकी मृत्यु के बाद उसके सेनापतियो ने उसकी सल्तनत को आपस मे बाट लिया। मिस्र टालमी के हिस्से मे पडा। उसने वहा एक मजबूत राज्य की नीव डाली और एक राज-वश चलाया। इसकी हुकूमत मे मिस्र, जिसकी राजधानी सिकन्दरिया थी, बहुत शक्तिशाली राज्य बन गया। सिकन्दरिया बहुत बडा शहर था और विज्ञान, दर्शन तथा विद्या के लिए मशहूर था।

ईरान, इराक और एशिया-कोचक का एक हिस्सा दूसरे सेनापति सेल्यूकस के हिस्से मे आया। भारत का उत्तर-पश्चिमी हिस्सा भी, जिसे सिकन्दर ने जीता था, इसीको मिला। लेकिन वह भारत के हिस्से

और वह ओवेन का अनुयायी वन गया। पेरिस की यात्रा ने, जिसके फल-स्वरूप कार्ल मार्क्स से उसकी पहली भेंट हुई, उसके विचारो को भी बदल दिया। तबसे मार्क्स और एजेल्स गहरे दोस्त और साथी हो गये। दोनो के एक-से विचार थे और दोनो एक ही उद्देश्य के लिए दिलोजान से मिलकर काम करने लगे। आयु भी दोनो की लगभग समान थी। उनका सहयोग इतना गहरा था कि जो पुस्तके उन्होने प्रकाशित की, उनमें से ज्यादातर दोनो की सम्मिलित लिखी हुई थी।

फ्रान्स की तत्कालीन सरकार ने मार्क्स को पेरिस से निकाल दिया। यह लुई फिलिप का जमाना था। मार्क्स लन्दन चला गया और वहा बहुत वर्ष तक रहा। वहा वह ब्रिटिश म्यूजियम की पुस्तको को पढने मे डूबा रहता। उसने कठिन परिश्रम करके अपने मतो को परिपुष्ट किया और फिर उनपर लिखने लगा। मगर वह कोरा अध्यापक या दार्शनिक नही था, जो बैठा-बैठा मत गढा करता हो और दुनिया की बातो से सरोकार न रखता हो। जहा उसने समाजवादी आन्दोलन की अस्पष्ट विचारधारा का विकास किया और उसे स्पष्ट किया और उसके सामने निश्चित और साफ़-साफ विचार और ध्येय उपस्थित किये, वहा उसने यूरोप मे मजदूरो और उनके आन्दोलन को सगठित करने मे भी क्रियात्मक और प्रमुख भाग लिया। सन १८४८ मे, जो क्रान्तियो का वर्ष कहलाता है, जो घटनाए हुई, उनसे मार्क्स का हृदय स्वभावत ही बहुत द्रवित हुआ। उसी साल उसने और एजेल्स ने एक सम्मिलित घोषणा-पत्र प्रकाशित किया, जो बहुत प्रसिद्ध हो चुका है। यह 'साम्यवादी घोषणा-पत्र' था, जिसमे उन्होने उन विचारो की विवेचना की, जो फ्रान्स की महान राज्यक्रान्ति की और बाद मे सन १८३० और सन १८४८ के विद्रोहो की जड़ मे थे। उन्होने इस घोषणा-पत्र मे यह भी बतलाया कि वे विचार न तो वास्तविक परिस्थितियो के लिए काफी थे और न उनसे मेल खाते थे। उन्होने उस समय की स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृभाव की लोकतन्त्रवादी पुकारो की आलोचना की और यह दिखाया कि जनता के लिए ये कोई अर्थ नही रखती, केवल मध्यमवर्गी राज्य पर पवित्रता की झूठी परत चढा देती है। आगे चलकर उन्होने सक्षेप मे समाजवाद के अपने मत का प्रतिपादन किया और घोषणा-पत्र के अन्त मे उन्होने सारे मजदूरो से उन

ऐसे रुख का रूढिवादी धर्म या निरकुशता के साथ समझौता नही हो सकता था। यह तो दार्शनिक का, सत्य के खोजी का रवैया था।

मैने उन्नीसवी सदी के पश्चिमी यूरोप के कुछ प्रमख विचारको के नाम बता दिये है, ताकि विचारधाराओ के विकास की दिशा का पता लग जाय और ये नाम विचारो की दुनिया के मार्गदर्शक चिह्न बन जाय। मगर इन लोगो का और आमतौर पर शुरू के लोकतत्रवादियो का प्रभाव करीब-करीब दिमागी वर्गों तक ही सीमित था। इन दिमागी लोगो से छनकर वह कुछ हद तक अन्य लोगो मे भी पहुच गया था। यद्यपि इस लोकतत्री विचार-धारा का सीधा प्रभाव जनता पर वहुत मामूली पडा, लेकिन अप्रत्यक्ष प्रभाव खूब हुआ। मताधिकार की माग-जैसे कुछ मामलो मे तो सीधा प्रभाव भी बहुत पडा।

: ३६ :

# कार्ल मार्क्स

उन्नीसवी सदी के बीच के आसपास यूरोप के मजदूर और समाज-वादी ससार मे एक नये और चित्ताकर्षक व्यक्तित्ववाला आदमी प्रकट हुआ। यह कार्ल मार्क्स था। वह एक जर्मन यहूदी था। उसका जन्म सन १८१८ मे हुआ था। उसने कानून, इतिहास और दर्शनशास्त्र का अध्ययन किया। एक अखबार निकालने के कारण उसका जर्मनी के अधिकारियो से झगडा हो गया। वह पेरिस चला आया, जहा वह नये-नये लोगो के सम्पर्क मे आया। उसने समाजवाद और अराजकता-वाद पर नई-नई किताबे पढी और वह समाजवादी विचारधारा का समर्थक वन गया। वही पेरिस मे फ्रेडरिक एजेल्स नामक एक और जर्मन से उसकी मुलाकात हुई। एजेल्स इग्लैण्ड से आकर वस गया था और वहा कपडे के बढते हुए उद्योग में एक धनवान कारखानेदार वन गया था। एजेल्स भी वर्तमान सामाजिक स्थिति से दुखी और असन्तुष्ट था और उसका दिमाग चारो तरफ दीखनेवाली गरीबी और शोपण के इलाज की तलाश कर रहा था। रॉबर्ट ओवेन के सुधार-सम्बन्धी विचार और प्रयत्न उसे बहुत भाये

स्वाधीनता प्राप्त करने मे थी। दूसरी तरफ अराजकतावादी लोग थे, जो तुरंत लड़ाई मोल लेना चाहते थे। सभा मे मार्क्स के अलावा दूसरा प्रभावशाली व्यक्ति अराजकतावादी नेता बाकुनिन था। वह कई वर्ष साइबेरिया मे कैद रहकर तीन साल पहले भागकर निकल आया था। बाकुनिन के अनुयायी खासतौर पर दक्षिण यूरोप के इटली और स्पेन वगैरह से आये थे, जिनमें बडे उद्योग-धधो का विकास नही हुआ था और वे इस दिशा में पिछडे हुए थे। वे बेकार दिमागी लोग और तरह-तरह के अन्य क्रान्तिकारी लोग थे, जिनको तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था मे कोई जगह नही मिलती थी। मार्क्स के अनुयायी औद्योगिक देशो से, खासकर जर्मनी से, आये थे, जहा मजदूरो की हालत अच्छी थी। इस तरह मार्क्स तो बढते हुए, सगठित और कुछ खुशहाल मजदूर-वर्ग का प्रतिनिधि था और बाकुनिन गरीब और असगठित मजदूरो और दिमागी और असंतुष्ट लोगो का। मार्क्स का कहना था कि जबतक कुछ कर गुजरने की घडी आये, तबतक धीरज के साथ सगठन किया जाय और मज़दूरो को उसके समाजवादी मतो का ज्ञान कराया जाय। बाकुनिन और उसके अनुयायी तुरत ही कार्रवाई करने के पक्ष मे थे। सब बातो को देखते हुए जीत मार्क्स की हुई। अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर सघ की स्थापना हुई। यह मजदूरो का प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय संगठन था।

तीन साल बाद, यानी सन १८६७ मार्क्स का महान ग्रंथ 'कैपिटल' अर्थात 'पूजी' जर्मन भाषा मे प्रकाशित हुआ। लदन में उसने बहुत वर्षों तक जो मेहनत की थी, यह उसीका परिणाम था। इसमें उसने प्रचलित आर्थिक सिद्धान्तो का विश्लेषण करके उनकी आलोचना की और अपना समाजवादी मत विस्तार के साथ समझाया। यह शुद्ध वैज्ञानिक ग्रथ था। उसने सारी अनिश्चित और आदर्शवाद की बाते छोड़कर निष्पक्ष और वैज्ञानिक ढग से इतिहास और अर्थशास्त्र के विकास की आलोचना की। उसने खासतौर पर बड़ी मशीनो और औद्योगिक सभ्यता के विकास की चर्चा की, और क्रम-विकास, इतिहास तथा मानव-समाज मे वर्गो के संघर्ष के बारे मे कुछ दूर तक असर डालनेवाले नतीजे निकाले। मार्क्स का यह नया, पूर्ण, स्पष्ट और अकाट्य तर्कसम्मत समाजवाद इसीलिए 'वैज्ञानिक समाजवाद' कहलाया, क्योकि यह उस अस्पष्ट, लोकोत्तर या 'आदर्शवादी' समाजवाद से भिन्न था,

शब्दो में अपील की—"ससार के मजदूरो, एक हो जाओ। तुम्हे खोना कुछ नही है, सिवाय अपनी गुलामी की जजीरो के, और पाने को तुम्हारे लिए ससार पडा है।"

यह अपील कार्रवाई करने के लिए आवाहन थी। इसके बाद मार्क्स ने अखबारो और पर्चो के जरिये निरन्तर प्रचार शुरू कर दिया और मजदूर सगठनो को एक करने की दिन-रात कोशिश करने लगा। ऐसा जान पडता है कि उसे यूरोप मे कोई बडा सकट-काल आता दिखाई दे रहा था और वह चाहता था कि मजदूर उसके लिए तैयार रहे, ताकि वे उससे पूरा फायदा उठा सके। उसके समाजवादी मत के अनुसार पूजीवादी प्रणाली मे सचमुच ऐसा सकट-काल आये बिना रह ही नही सकता था। सन १८५४ में न्यूयार्क के एक अखबार मे मार्क्स ने लिखा था

"फिर भी हमे यह न भूलना चाहिए कि यूरोप में छठी शक्ति भी है, जो खास-खास मौको पर पाचो कथित 'महान शक्तियो' पर अपनी प्रभुता रखती है और उन सबको थर्रा देती है। यह शक्ति क्रान्ति की है। बहुत दिन चुपचाप एकान्तवास करने के बाद अब सकट और भूख इसे फिर लडाई के मैदान मे बुला रहे है। सिर्फ एक इशारे की जरूरत है। फिर तो यूरोप की छठी और सबसे महान शक्ति चमकता हुआ कवच पहने और हाथ मे तलवार लिये हुए दुर्गा की तरह निकल पडेगी। यह इशारा आनेवाले यूरोप के युद्ध से मिल जायगा।"

यूरोप की अगली क्रान्ति के बारे में मार्क्स की भविष्यवाणी ठीक नहीं निकली। उसके लिखने के साठ साल बाद और एक ससारव्यापी युद्ध के बाद कही जाकर यूरोप के एक हिस्से मे क्रान्ति हुई। यह तो हम देख ही चुके है कि पेरिस के पचायती राज्य के रूप में सन १८७१ मे क्रान्ति की जो कोशिश हुई, वह निर्दयता के साथ कुचल दी गई थी।

सन १८६४ मे मार्क्स लन्दन मे एक खिचडी सभा बुलाने मे सफल हुआ। उसमें अनेक दलो के लोग, जो अपनेको मोटे तौर पर समाजवादी कहते थे, इकट्ठे हुए। एक तरफ तो यूरोप के कई पराधीन देशो के लोक-तन्त्रवादी और देशभक्त थे, जो समाजवाद मे श्रद्धा तो रखते थे, पर उसे बहुत दूर की चीज समझते थे। उनकी ज्यादा दिलचस्पी तो तुरन्त राष्ट्रीय

कहलाता है। समाजवादी सिद्धान्त यह था कि चूंकि राज्य समूचे समाज का प्रतिनिधि है, इसलिए उत्पादन के साधनो पर, यानी जमीन, कारखानो आदि पर, उसीका स्वामित्व और नियत्रण होना चाहिए । मतभेद इस बात पर था कि यह किस हद तक हो। यह स्पष्ट है कि औजारो और घरेलू यत्रो जैसी बहुत-सी निजी चीजो का समाजीकरण बेहूदा-सी बात है। मगर इस बात पर समाजवादियो का एक मत था कि जिस किसी चीज का उपयोग दूसरो की महनत से निजी फायदा उठाने मे किया जा सकता हो, उसका समाजीकरण होना चाहिए, यानी वह राष्ट्र की सम्पति बना दी जानी चाहिए। अराजकतावादियो की तरह सघवादी भी राज्य को पसन्द नही करते थे और उसके अधिकारो को सीमित कर देने की कोशिश करते थे। वे चाहते थे कि हरएक उद्योग पर उस उद्योग के मज़दूरो का अपने सघ के जरिये नियत्रण रहे। कल्पना यह थी कि अलग-अलग सघ अपने-अपने प्रतिनिधि चुनकर बड़ी परिषद में भेजेगे। यह परिपद सारे देश के मामलो को सम्हालेगी और व्यापक कामकाज के लिए एक तरह की पार्लमेण्ट होगी, मगर उसे किसी उद्योग की भीतरी व्यवस्था मे दखल देने का अधिकार न होगा। यह स्थिति पैदा करने के लिए सघवादी आम हड्ताल का प्रचार करते थे, यानी वे देश के कारोबार को ठप्प करवाकर अपना उद्देश्य पूरा करना चाहते थे । मार्क्स के अनुयायी सघवाद से बिल्कुल सहमत नही थे, मगर यह अनोखी बात है कि मार्क्स के मरने के बाद सघवादी उसे अपने दल का ही एक आदमी मानते थे ।

कार्ल मार्क्स १८८३ मे मरा। उस समय तक इग्लैण्ड, जर्मनी और अन्य औद्योगिक देशो मे ताकतवर मजदूर सघ बन गये थे। ब्रिटिश उद्योगो के अच्छे दिन बीत चुके थे और जर्मनी और अमरीका की बढती हुई प्रतियोगिता के मुकाबले मे वे गिरते जा रहे थे। अलबत्ता अमरीका के पास बडे प्राकृतिक साधन थे, जिनसे वहा तेजी के साथ औद्योगिक विकास होने मे मदद मिली। जर्मनी मे राजनैतिक निरकुशता और औद्योगिक प्रगति का अनोखा मेल था । उस निरकुशता मे कमजोर और अधिकार-हीन पार्लमेण्ट का पुट लगा हुआ था। बिस्मार्क के शासन-काल मे और बाद मे भी जर्मन सरकार ने उद्योग-धधों की कई तरह से मदद की और मजदूरो की हालत अच्छी करनेवाले सामाजिक सुधार के कानून बनाकर मजदूर-वर्ग को खुश करने की कोशिश

जो अबतक प्रचलित था। मार्क्स की 'पूजी' कोई सरल पुस्तक नही है, मन-वहलाव की पुस्तको मे और इसमे कल्पनातीत अन्तर है। फिर भी यह उन थोडी-सी चुनी हुई पुस्तको मे से है, जिन्होने वहुत लोगो के विचार करने के ढग को प्रभावित किया है, उनकी सारी विचारधारा को ही वदल दिया है और इस प्रकार मानव-विकास पर प्रभाव डाला है।

सन १८७१ मे पेरिस कम्यून की दुखद घटना हुई। इरादा करके किया गया शायद यह पहला समाजवादी विद्रोह था। इससे यूरोप की सरकारे भयभीत हो गई और मजदूर-आन्दोलन के प्रति उनका रुख और भी कडा हो गया। दूसरे वर्ष मार्क्स के स्थापित किये हुए अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर सघ की बैठक हुई और मार्क्स उसके प्रधान कार्यालय को न्यूयार्क ले जाने मे सफल हुआ। मालूम होता है कि इसमे मार्क्स का मकसद यही था कि वाकुनिन के अराजकतावादी अनुयायियो से पीछा छूटे, और शायद यह भी कि चूकि पेरिस कम्यून के कारण यूरोप की सरकारो को गुस्सा आ रहा था, इसलिए उसने सोचा कि वहा की अपेक्षा न्यूयार्क में ज्यादा सुरक्षित आश्रय मिलेगा। मगर सघ के लिए अपने क्रियाशील केन्द्रो से इतनी दूर रह सकना सम्भव नही था। उसकी सारी ताकत यूरोप में थी और यूरोप मे भी मजदूर-आन्दोलन के दिन बुरे बीत रहे थे। इसलिए प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय सघ का धीरे-धीरे प्राणान्त हो गया।

मार्क्सवाद या मार्क्स का समाजवाद यूरोप के समाजवादियो में, खासतौर पर जर्मनी और आस्ट्रिया में फैला, जहा यह आमतौर पर 'सामाजिक लोकतन्त्र' (सोशल डेमोक्रेसी) के नाम से मशहूर हुआ। लेकिन इग्लैण्ड ने चाव के साथ इसे नही अपनाया। उस समय वह इतना समृद्ध था कि वहा किसी प्रगतिशील सामाजिक सिद्धान्त के लिए गुजाइश नही थी। अग्रेजी छाप के समाजवाद की प्रतिनिधी फेवियन सोसायटी थी, जिसका दूर भविष्य मे परिवर्तन का वडा नरम कार्यक्रम था। फेवियन लोगो का मजदूरो से कोई वास्ता नही था। ये तो प्रगतिशील उदार विचारोवाले दिमागी लोग थे।

फ्रान्स मे कम्यून के वाद समाजवाद को फिर से धीरे-धीरे पनपकर क्रियाशील ताकत वनने मे वारह वर्ष लग गये, मगर वहा इसका स्वरूप नया हो गया। वह अराजकतावाद और समाजवाद दोनो का संकर था। यह 'सघवाद'

राज्य किया और किसी तरह आस्ट्रिया, हगरी और अपने अधीन अन्य हिस्सो को एकसूत्र मे वाध रखा। लेकिन महायुद्ध ने उसका और उसके साम्राज्य का अन्त कर दिया।

विक्टोरिया उससे ज्यादा भाग्यवान थी। अपने शासन-काल मे उसने इग्लैण्ड की शक्ति को वढते हुए और उसके साम्राज्य को फैलते हुए देखा। जव वह गद्दी पर वैठी, कनाडा मे गडवड थी। इस उपनिवेश मे खुली वगावत हो रही थी और वहा के अनेक निवासी इग्लैण्ड से विलग होकर अपने पडोसी अमरीका के सयुक्त राज्य में मिल जाना चाहते थे। मगर इग्लैण्ड ने अमरीका के युद्ध से सवक सीख लिया था और उसने तुरन्त ही कनाडावालो को स्वशासन का वहुत-कुछ अधिकार देकर सतुष्ट कर दिया। कुछ ही समय मे वह वढते-वढते पूर्ण स्वशासित उपनिवेश वन गया। साम्राज्य मे यह नये ढग का प्रयोग था, क्योकि आजादी और साम्राज्य का साथ नही हो सकता। मगर इग्लैण्ड को परिस्थिति से मजबूर होकर ही ऐसा करना पडा, वरना वह कनाडा को खो वैठता। कनाडा के ज्यादातर निवासी अग्रेज जाति के थे, इसलिए मातृदेश के साथ वे भावना के मजबूत वधन मे वधे हुए थे। इधर इस नये देश में लम्बी-चौडी जमीनें विना उपयोग पडी थी और उसकी आवादी भी वहुत कम थी। इसलिए उसे अपने विकास के लिए इग्लैण्ड के वने माल पर और अग्रेजी पजी पर वहुत अधिक निर्भर रहना पड़ता था। इस कारण उस समय दोनो देशो के स्वार्थो मे कोई विरोध नही था और उनके वीच मे जो अजीव और नया रिश्ता कायम हुआ, उसपर कोई जोर नही पडा।

इसी सदी मे आगे चलकर विदेशी अग्रेजी वस्तियो को स्वराज्य देने का यह तरीका आस्ट्रेलिया मे भी काम मे लाया गया। सदी के लगभग मध्य तक जहा आस्ट्रेलिया कैदियो के रखने का स्थान था, सदी के अन्त में वह साम्राज्य के अन्तर्गत आजाद उपनिवेश वना दिया गया।

दूसरी तरफ भारत मे अग्रेजी शिकजा और भी कस दिया गया और देश-विजय के लिए युद्ध-पर-युद्ध करके ब्रिटिश भारतीय साम्राज्य का विस्तार किया गया। सन १८५७ का विद्रोह कुचल दिया गया और भारत को साम्राज्य के पूरे वल का अनुभव करा दिया गया।

की। इसी तरह अंग्रेजी उदार दल ने कुछ सामाजिक कानून पास करके काम के घंटे घटा दिये और मजदूरो की बुरी हालत कुछ अच्छी कर दी। जबतक खुशहाली रही तबतक इस उपाय से काम चल गया और अंग्रेज मजदूर नरम और शान्त बने रहे और श्रद्धा के साथ उदार दल को वोट देते रहे। मगर सन १८८० के बाद अन्य देशो की प्रतियोगिता ने खुशहाली के लम्बे समय का अन्त कर दिया और इंग्लैण्ड में व्यापार की मदी शुरू हो गई और मजदूरो की मजदूरी की दर घट गई। इसलिए मजदूरो में फिर जागृति हुई और वायुमण्डल मे क्रान्ति की भावना भर गई। इंगलैण्ड मे बहुत-से लोगो की निगाहे मार्क्सवाद की तरफ दौडने लगी।

## : ३७ :

# विक्टोरिया और उसके प्रधान मंत्री

उन्नीसवी सदी वास्तव मे इंग्लैण्ड की महानता की सदी थी। इस सदी के ज्यादातर हिस्से मे विक्टोरिया इंग्लैण्ड की महारानी थी। वह जर्मनी के हैंनोवर घराने की थी। इस घराने ने अठारहवी सदी मे ब्रिटिश राज-सिंहासन को जार्ज नाम के कई बादशाह दिये। विक्टोरिया सन १८३७ में गद्दी पर बैठी। उस समय वह १८ वर्ष की लडकी थी और उसने सदी के अन्त, यानी सन १९००, तक तिरेसठ वर्ष राज्य किया। इंग्लैण्ड में इस लम्बे जमाने को अक्सर विक्टोरिया-युग के नाम से पुकारते है। इसलिए महारानी विक्टोरिया ने यूरोप मे और अन्य देशो मे अनेक महान परिवर्तन देखे और पुराने मार्ग-चिह्नो को मिटता हुआ तथा नयो को उनकी जगह लेता हुआ देखा। उसने यूरोप की क्रांतिया, फ्रान्स मे परिवर्तन और इटली के राज्य तथा जर्मनी के साम्राज्य का उदय देखा। मृत्यु से पहले वह एक तरह से यूरोप की और यूरोप के राजाओ की दादी मानी जाने लगी थी। मगर यूरोप में विक्टोरिया का समकालीन एक और राजा था, उसका भी वैसा ही इतिहास है। वह आस्ट्रिया के हैप्सबर्ग राजघराने का सम्राट फ्रान्सिस जोजेफ था। जब क्राति के वर्ष सन १८४८ मे वह अपने टूटे-फूटे साम्राज्य की गद्दी पर बैठा उस समय उसकी भी उम्र अठारह वर्ष की थी। उसने अड़सठ वर्ष

र अपना अधिकार कायम नही रख सका और सिकन्दर की मौत बाद यूनानी सेना यहा से भगा दी गई।

सिकन्दर भारत मे ईसा से पहले ३२६वे साल मे आया था। इसका ना क्या था, एक तरह का धावा था, जिसका भारत पर कोई असर नही हा। कुछ लोगो का खयाल है कि इस धावे ने भारतीयो और यूनानियो रब्त-जब्त शुरू करने मे मदद दी। लेकिन सच तो यह है कि सिकन्दर से हले भी पूर्व और पश्चिम के देशो मे आपस मे आमद-रफ्त थी और रत का ईरान और यूनान से बराबर सम्पर्क था। सिकन्दर के आने यह सम्पर्क कुछ और बढा जरूर होगा और भारतीय और यूनानी नो सभ्यताए कुछ ज्यादा हद तक एक-दूसरे से मिल-जुल गई होगी। ण्डिया' शब्द ही यूनानी 'इण्डोस' से बना है और 'इण्डोस' की उत्पत्ति ण्डस' अर्थात सिन्ध नदी से हुई है।

: ४ :

## चन्द्रगुप्त मौर्य और चाणक्य

मगध एक बहुत पुराना राज्य था और उस जगह बसा हुआ था, जहा ाजकल बिहार का प्रान्त है। इस राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र थी, ो आजकल पटना कहलाता है। जिस समय का हम जिक्र कर रहे है, स समय मगध देश पर नन्द-वश का राज्य था। जब सिकन्दर ने उत्तर-श्चिम भारत पर धावा किया था, उस समय पाटलिपुत्र की राजगद्दी पर न्दवश का एक राजा राज्य करता था। उस समय वहा चन्द्रगुप्त नाम का क नवयुवक भी था, जो शायद इस राजा का कोई रिश्तेदार था। मालूम ोता है, वह बडा चतुर, उत्साही और महत्वाकाक्षी था। नन्द राजा ने उसे रूरत से ज्यादा चालाक समझकर या उसके किसी काम से नाराज ोकर अपने राज्य से निर्वासित कर दिया। शायद सिकन्दर और ूनानियो की कहानियो से आकर्षित होकर चन्द्रगुप्त उत्तर की ोर तक्षशिला चला गया। उसके साथ विष्णुगुप्त नाम का एक वद्वान और अनुभवी ब्राह्मण था, जिसे चाणक्य भी कहते है।

वास्तव में भारत ही ब्रिटेन का साम्राज्य था और मानो ससार के सामने इस तथ्य की घोषणा करने के लिए महारानी विक्टोरिया ने 'भारत की साम्राज्ञी' की उपाधि ग्रहण की। मगर भारत के अलावा दुनिया के अलग-अलग भागो मे और भी कई छोटे-छोटे देश इग्लैण्ड के अधीन थे।

ब्रिटेन की सरकार का रूप वह था, जिसे सवैधानिक एकतत्री या 'ताजधारी गणतत्र' कहते है। इसका अर्थ यह है कि ताज धारण करनेवाले के हाथ मे असली सत्ता कुछ न थी और वह पार्लमिण्ट के विश्वासपात्र मत्रियो का केवल प्रवक्ता होता था। राजनैतिक दृष्टि से वह मत्रियो के हाथ की कठपुतली होता था और कहा जाता था कि वह "राजनीति से परे" है। असल बात यह है कि तेज बुद्धि या मजबूत इरादेवाला कोई भी आदमी सिर्फ कठपुतली बनकर नही रह सकता और अग्रेज बादशाहो या बेगमो को सार्वजनिक मामलो में दखल देने के बहुत अवसर मिलते है। आमतौर पर यह चीज परदे के भीतर होती है और जनता को या तो कुछ मालूम ही नही हो पाता या होता भी है तो बहुत समय बाद। खुली दस्तन्दाजी पर बहुत असन्तोष फैल सकता है और बादशाहत खतरे में पड सकती है। सवैधानिक राजा मे जो बडा गुण होना आवश्यक है, वह है व्यवहार-कुशलता। यह उसमे है, तो फिर उसका काम चल सकता है और वह अनेक प्रकार से अपना असर डाल सकता है।

इसमे कोई सदेह नही कि इग्लैण्ड में शाही दरबार के अस्तित्व का अग्रेजो की मनोवृत्ति ढालने मे और उनको समाज का वर्ग-भेद स्वीकार कराने मे बडा असर पडा है। या शायद यह कहना ज्यादा ठीक होगा कि जहा दुनिया के सारे बडे-बडे देशो से बादशाहत गायब हो गई है, वहा इग्लैण्ड मे उसके किसी तरह बच रहने का कारण यही है कि वहा लोगो ने ऊचे और नीचे वर्गों के भेद को मान रखा है।

ब्रिटिश पार्लमिण्ट 'पार्लमिण्टो की जननी' कहलाती है। उसका जीवन लम्बा और सम्मानपूर्ण रहा है और बहुत-सी बातो मे बादशाह की स्वेच्छाचारिता से लडने मे उसने सबसे पहले कदम उठाया था। उस एकतत्री शासन की जगह पार्लमिण्ट की अल्पतत्री सत्ता आई, यानी मुट्ठी-भर जमीदार और शासक-वर्ग का शासन हुआ। फिर लोकतन्त्रवाद की सवारी गाजे-बाजे के

साथ आई और बडी खीचतान के बाद आबादी के बहुमत को पार्लमिण्ट की कामन्स-सभा के सदस्य चुनने का मताधिकार मिला। व्यवहार मे इसका नतीजा वास्तविक लोकतन्त्री नियत्रण नही हुआ, बल्कि धनवान कारखानेदारों के हाथ मे पार्लमिण्ट की बागडोर आ गई। लोक-सत्ता के बजाय धन-सत्ता कायम हो गई।

ब्रिटिश पार्लमिण्ट ने शासन और कानून बनाने का काम-काज करने के लिए एक अजीब प्रणाली का विकास किया। यह दो दलो की प्रणाली कहलाती है। इन दोनो दलो मे कोई ज्यादा फर्क नही था। उनके कोई परस्पर विरोधी सिद्धान्त न थे। दोनो धनवानो के दल थे और उस समय की सामाजिक व्यवस्था को मानते थे। एक दल मे पुराने जमीदार वर्ग के आदमी ज्यादा थे तो दूसरे मे धनी कारखानेदारो की बहुतायत थी। मगर यह नागराज और सापराज का ही भेद था। पहले वे 'टोरी' और 'ह्विग' कहलाते थे। बाद मे उन्नीसवी सदी मे उसका नाम 'अनुदार-दल' (कन्ज़रवेटिव पार्टी) और 'उदार-दल' (लिबरल पार्टी) पड गया।

यूरोप के अन्य देशो की अवस्था भिन्न थी। वहा सचमुच अलग-अलग कार्यक्रमो और विचारधाराओवाले दल पार्लमिण्टो के भीतर और बाहर बडी सरगरमी से लडते थे। मगर इग्लैण्ड मे तो घर-कुटुम्ब की-सी बात थी, विरोध भी एक प्रकार का सहयोग बन गया था, और दोनो दल बारी-बारी से सत्ताधारी और विरोधी बनते रहते थे। धनवानो और गरीबो की असली मुठभेड और वर्ग-युद्ध पार्लमिण्ट मे प्रकट नही होते थे, क्योकि दोनो बड़े-बड़े दल धनवानो के दल थे। जनता के जोश को उभाडनेवाले न तो कोई धार्मिक सवाल थे और न अन्य यूरोपीय देशो के-से जातीय या राष्ट्रीय सवाल थे।

उन्नीसवी सदी के उत्तरार्द्ध मे इग्लैण्ड के राजनैतिक दलो के दो बड़े नेता डिजरायली और ग्लैडस्टन थे। डिजरायली, जो आगे चलकर बीकन्स-फील्ड का अर्ल हो गया, अनुदार दल का नेता था और कितनी ही बार प्रधान मत्री बना। उसके लिए यह मार्के की करामात थी, क्योकि वह यहूदी था और उसके कोई महत्वपूर्ण सम्बन्ध नही थे और यहूदियो को अग्रेज लोग पसन्द भी नही करते। लेकिन सिर्फ योग्यता और लगन के बल पर उसने अपने विरुद्ध तास्सुब की भावना को जीत लिया और वह रास्ता चीरकर

सबके आगे आ गया। वह बडा साम्राज्यवादी था और विक्टोरिया को 'कैसरे हिन्द' इसीने बनाया। ग्लैडस्टन एक पुराने धनी अंग्रेज घराने का था। वह उदार दल का नेता बन गया और वह भी कई बार प्रधान मंत्री रहा। जहांतक साम्राज्यवाद और विदेश-नीति का सम्बन्ध था, ग्लैडस्टन और डिजरायली मे कोई मौलिक अन्तर नही था। मगर डिजरायली अपने साम्राज्यवाद की बात बेलाग कहता था और ग्लैडस्टन, जो पूरा अंग्रेज था, असलियत को लच्छेदार बातो और नेक उपदेशो से ढक देता था। वह ऐसा प्रकट करता था, मानो जो कुछ भी वह करता था, उसमे परमात्मा ही उसका मुख्य सलाहकार था। बलकान देशो में तुर्कों के अत्याचारो के विरुद्ध उसने बडा भारी आन्दोलन मचवाया और डिजरायली ने केवल विरोध की खातिर तुर्कों का पक्ष लिया। असल में दोष तो तुर्कों का, और बलकान में विभिन्न कौमोवाली उनकी प्रजाओ, दोनो का ही था। वे बारी-बारी से भयकर हत्याकाण्ड और अत्याचार करते थे।

ग्लैडस्टन ने आयरलैण्ड के लिए स्वराज्य का भी समर्थन किया। वह सफल नही हुआ और अंग्रेजो का विरोध इतना प्रबल था कि खुद उदार दल के ही दो टुकडे हो गये। एक हिस्सा अनुदार दल में जा मिला, जो अब एकतावादी दल कहलाने लगा, क्योकि ये लोग आयरलैण्ड के साथ एकता का रिश्ता बनाये रखना चाहते थे। होमरूल बिल पार्लमेिण्ट मे गिर गया और उसीके साथ ग्लैडस्टन का पतन हो गया। इसके सात वर्ष बाद, सन १८९३ में, जब ग्लैडस्टन की उम्र चौरासी वर्ष की थी, वह फिर प्रधान मंत्री बना। उसने दूसरी बार होमरूल बिल पेश किया और वह कामन्स-सभा में बहुत कम बहुमत से पास हुआ, लेकिन लार्ड-सभा ने इस बिल को नामन्जूर कर दिया।

: ३८ :

## अब्राहम लिंकन

उत्तर अमरीका में गुलामी की प्रथा बिल्कुल उठा देने का जो आन्दोलन खड़ा हुआ, उसके समर्थको का मुख्य नेता विलियम लायड गैरीसन था। सन १८३१ मे गैरीसन ने गुलामी-विरोधी आन्दोलन के समर्थन के लिए

'लिबरेटर' नामक एक पत्र निकाला। इसके पहले ही अंक मे उसने स्पष्ट कर दिया कि इस मामले मे वह कोई समझौता नही करेगा और न मुलायमियत।

लेकिन यह वीर-वृत्ति थोडे-से लोगो तक ही सीमित थी। जो लोग गुलामी की प्रथा के विरुद्ध थे, उनमे से ज्यादातर यह नही चाहते थे कि जहा गुलामी मौजूद है, वहा उसमे दखल न दिया जाय। फिर भी उत्तर और दक्षिण के बीच तनाव बढता ही गया, क्योकि उनके आर्थिक स्वार्थ जुदा-जुदा थे और तट-कर के प्रश्नो पर खासतौर पर आपस मे टकराते थे।

सन १८६० मे अब्राहम लिंकन सयुक्त राज्य अमरीका का राष्ट्रपति चुना गया, उसका चुनाव दक्षिणवालो के लिए विलग हो जाने का सकेत हो गया। लिंकन गुलामी का विरोधी था, मगर फिर भी उसने स्पष्ट कर दिया था कि जहा गुलामी पहले से मौजूद है, वहा उसे नही छेडा जायगा। पर वह इस बात के लिए तैयार नही था कि यह नये राज्यो मे भी चालू की जाय या इसे कानूनी रूप दिया जाय। इस आश्वासन से दक्षिण को सतोप नही हुआ और एक-एक करके कई राज्य सघ से अलग हो गये। सयुक्त राज्य छिन्न-भिन्न हुआ चाहता था। नये राष्ट्रपति के सामने ऐसी भयकर स्थिति थी। उसने दक्षिण को राजी करने की और इस अग-भग को रोकने की एक और कोशिश की। उसने उन्हे सब तरह के आश्वासन दिये कि गुलामी जारी रहने दी जायगी। उसने यहातक कह दिया कि वह गुलामी को (जहा मौजूद है) सविधान में शामिल करके उसे स्थायी रूप देने को भी तैयार है। असल में वह शान्ति की खातिर किसी भी हद तक जाने को राजी था, पर वह एक बात को मन्जूर नही कर सकता था और वह थी सघ का छिन्न-भिन्न होना। किसी राज्य का सघ से अलग होने का अधिकार वह कतई मानने को तैयार नही था।

गृह-युद्ध को टालने की लिंकन की सारी कोशिशे असफल रही। दक्षिण ने अलग हो जाने का फैसला कर लिया और ग्यारह राज्य अलग भी हो गये। उनके साथ कुछ अन्य सीमावर्ती राज्यो की भी सहानुभूति थी। अलग होने-वाले राज्य अपनेको 'सम्मिलितराज्य' (कॉनफेडरेटेड स्टेट्स) कहने लगे और उन्होने जैफर्सन डेविस को अपना अलग राष्ट्रपति चुन लिया। सन १८६१ के अप्रैल मे गृह-युद्ध छिड गया और पूरे चार वर्ष

तक घिसटता रहा। इस युद्ध मे अनेक भाई भाइयो से और मित्र मित्रो से लडे। जैसे-जैसे युद्ध चला, दोनो तरफ विशाल फौजे खडी हो गई। उत्तर के पास अनेक सहूलियतें थी। उसकी आबादी भी ज्यादा थी और दौलत भी। वह पक्का माल तैयार करनेवाला और औद्योगिक क्षेत्र था, इसलिए उसके साधन बहुत ज्यादा थे और उसके यहा रेले भी अधिक थी। लेकिन दक्षिण के पास उससे अच्छे सैनिक और सेनापति थे, जिनमे जनरल ली खास था। इसलिए शुरू-शुरू में सारी विजयें दक्षिण के ही हाथ रही। लेकिन अन्त मे दक्षिण लडते-लडते कमजोर हो गया। उत्तर की समुद्री फौज ने दक्षिण का सम्बन्ध यूरोप मे उसकी मडी से बिल्कुल काट दिया और कपास तथा तम्बाकू का निर्यात रोक दिया। इससे दक्षिण अपग हो गया। लेकिन इसका लकाशायर पर भी बहुत विनाशकारी असर हुआ। वहा कपास न पहुचने से बहुत-सी मिले बन्द हो गई। लकाशायर के मजदूर बेकार हो गये और घोर विपत्ति मे पड गये।

इस युद्ध के बारे मे अग्रेजी लोकमत की आमतौर पर दक्षिणवालो के साथ सहानुभूति थी, या कम-से-कम धनिक वर्ग की राय दक्षिण के पक्ष मे थी। वामपक्षी लोग उत्तर के हिमायती थे।

गृह-युद्ध का मुख्य कारण गुलामी नही था। मैं कह चुका हू, लिंकन अन्त तक आश्वासन देता रहा था कि गुलामी की प्रथा जहा कही मौजूद हो, वहां वह उसे मानने को तैयार था। झगडे की जड तो असल में दक्षिण और उत्तर के जुदा-जुदा और कुछ-कुछ परस्पर-विरोधी आर्थिक स्वार्थ थे और अन्त मे लिंकन को सघ की रक्षा के लिए लडना पडा। यद्ध छिड जाने के बाद भी लिंकन ने गुलामी-प्रथा के बारे मे कोई स्पष्ट घोपणा नही की, क्योंकि उसे डर था कि उत्तर मे गुलामी के अनेक समर्थक कही भडक न जाय। हा, जैसे-जैसे युद्ध चलता गया, वैसे-वैसे वह अधिक निश्चयात्मक होता गया। पहले उसने यह प्रस्ताव रखा कि काग्रेस मालिको को मुआवजा देकर गुलामो को आजाद करदे। बाद मे उसने मुआवजा देने का विचार छोड दिया और अन्त मे सन १८६२ के सितम्बर मे उसने जो 'मुक्ति की घोषणा' निकाली, उसमे यह ऐलान कर दिया कि सन १८६३ की पहली जनवरी से सरकार से बगावत करनेवाले सब राज्यो के गुलाम आजाद हो जाने

चाहिए। इस घोषणा के निकालने का मुख्य कारण शायद यह था कि वह युद्ध मे दक्षिण को कमजोर कर देना चाहता था। इसका नतीजा यह हुआ कि चालीस लाख गुलाम आजाद हो गये और निस्सदेह यह आशा की गई थी कि सम्मिलित राज्यो मे ये लोग बखेडा खडा कर देगे।

जब दक्षिणवाले पूरी तरह पस्त हो गये तो सन् १८६५ मे गृह-युद्ध समाप्त हुआ। वैसे तो युद्ध कभी भी भयकर चीज है, मगर गृह-युद्ध तो अक्सर और भी भयानक होता है। चार वर्ष के इस भीषण सघर्ष का बोझ सबसे ज्यादा राष्ट्रपति लिंकन पर पडा और उसका जो परिणाम निकला, वह भी बहुत-कुछ उसीकी शान्त दृढता के कारण था कि उसने सारी निराशाओ और आफतो के बावजूद हिम्मत नही हारी। उसे सिर्फ जीतने की ही धुन नही थी, बल्कि वह चाहता था कि यह यथा-सम्भव कम-से-कम कटुता के साथ हो, ताकि जिस सघ की खातिर वह लड रहा था, वह हृदयो का सच्चा सम्मेलन हो और ज़बरदस्ती लादा हुआ मेल न हो। इसलिए युद्ध मे विजयी होते ही उसने पराजित दक्षिण के साथ उदारता का बर्ताव शुरू कर दिया। लेकिन युद्ध के बाद कुछ ही दिन बीते थे कि किसी सिर-फिरे ने उसे गोली से मार दिया।

अब्राहम लिंकन की गणना अमरीका के महानतम वीरो में है। उसका स्थान ससार के महान पुरुषो में भी है। उसका जन्म बहुत गरीब घर मे हुआ था, उसने पाठशाला में कोई शिक्षा नही पाई थी, जो कुछ शिक्षा उसने प्राप्त की, वह ज्यादातर अपनी ही महनत से प्राप्त की थी। फिर भी वह उन्नति करके एक महान राज्य-शास्त्रवेत्ता और वक्ता बन गया और उसने एक महान सकट मे से अपने देश की नाव को निकाल लिया।

लिंकन की मृत्यु के बाद अमरीका की काग्रेस ने दक्षिणी गोरो के प्रति उतनी उदारता नही दिखाई, जितनी शायद लिंकन दिखाता। इन दक्षिणी गोरो को कई तरह की सजाए दी गई और बहुतो का मताधिकार छीन लिया गया। उधर हब्शियो को नागरिकता के पूरे अधिकार देकर इस चीज को अमरीका के सविधान मे शामिल कर दिया गया। यह नियम भी बना दिया गया कि कोई राज्य किसी व्यक्ति को उसकी जाति, वर्ण या पहले की गुलामी के कारण मताधिकार से वचित नही कर सकेगा।

हब्शी लोग अब कानूनी आधार पर आज़ाद हो गये और उन्हे वोट

देने का अधिकार मिल गया। लेकिन इससे उन्हे कोई लाभ नही हुआ, क्योकि उनकी आर्थिक स्थिति वैसी-की-वैसी ही रही। आजाद किये गए हब्शियो के पास कोई सम्पत्ति नही थी और उनका क्या किया जाय, यह पता लगाना एक समस्या हो गई। उनमें से कुछ लोग उत्तर के शहरो मे जा बसे, लेकिन ज्यादातर जहा थे, वही बने रहे और वे दक्षिण मे अपने पुराने गोरे दक्षिणी मालिको की मुट्ठी मे वैसे-के-वैसे ही रहे आये। वे पुरानी बाडियो मे रोज़ाना मजदूरो की तरह काम करते थे और जो मजूरी उनके गोरे मालिक दे देते, वही उन्हे लेनी पडती। दक्षिणी गोरो ने आतंक द्वारा हर तरह हब्शियो को दवाये रखने के लिए अपना सगठन भी कर लिया। उन्होने 'क्यूक्लक्स-क्लैन' नामक एक अजीब गुप्त-सी सस्था बना ली। इसके सदस्य बुर्के पहन-पहनकर हब्शियो को डराते फिरते थे और उन्हे चुनावो में वोट देने से भी रोकते थे।

पिछले पचास वर्षो में हब्शियो ने कुछ प्रगति की है। बहुतो के पास सम्पत्ति भी हो गई है और उनकी कई बढिया शिक्षण-सस्थाए है, फिर भी निश्चित रूप मे वे पराधीन जाति है। सयुक्त राज्य मे उनकी सख्या एक करोड बीस लाख के करीब, यानी सारी आबादी का करीब दसवा हिस्सा है। जहा-कही उनकी सख्या थोडी है, वहा उन्हे बरदाश्त कर लिया जाता है, जैसा उत्तर के कुछ हिस्सो मे होता है। मगर ज्योही उनकी सख्या बढ़ने लगती है त्योही उनकी मुसीबत आ जाती है और उन्हे यह महसूस करा दिया जाता है कि उनकी हालत पुराने गुलामो से किसी भी तरह अच्छी नही है। होटलो, आहार-गृहो, गिरजो, कालेजो, बागो, स्नान करने के समुद्री घाटो, ट्राम गाडियो और दूकानो तक मे—सभी जगह—उन्हे अछूतो की तरह गोरो से अलग रखा जाता है।

कभी-कभी गोरो और हब्शियो में भयकर जातिगत दंगे होते है। दक्षिण में अक्सर 'लिन्च' करने की भीषण वारदाते होती रहती है, यानी किसी आदमी पर मुजरिम होने का सन्देह करके भीड उसे पकड लेती है और मार डालती है। इन्ही वर्षो में ऐसी घटनाए भी हुई हैं कि गोरे लोगो की भीड़ ने हब्शियो को खम्भे से बाधकर जिन्दा जला दिया।

यो तो सारे अमरीका में ही, पर खासतौर पर दक्षिणी राज्यो में, हब्शियों

के लिए अब भी बहुत मुसीबतें है। अक्सर जब मजदूरो का मिलना कठिन हो जाता है, दक्षिण के कुछ राज्यो मे निरपराध हब्शियो को किसी बनावटी जुर्म मे जेल भेज दिया जाता है और फिर उन कैदी मजदूरो को खानगी ठेकेदारो को किराये पर दे दिया जाता है। यह चीज तो बहुत बुरी है ही, मगर इसके साथ की हालते तो दिल दहलानेवाली है। इस तरह हम देखते है कि आखिर कानूनी आजादी ही कोई बहुत बडी बात नही होती।

: ३८ :

# रूसी क्रांति और लेनिन

रूस की सन १९०५ ई० की क्रान्ति पाशविकता से दबा दी गई थी और जार की हुकूमत अबाध निरकुशता के अपने निश्चित मार्ग पर चलती रही। मार्क्सवादियो को, और खासकर बोल्शेविको को, कुचल दिया गया और उनके सब प्रधान नर और नारिया या तो साइबेरिया की ताजीरी बस्तियो मे थे या विदेशो मे निर्वासित थे। लेकिन विदेशवासी इन मुटठी-भर लोगो ने भी लेनिन के नेतृत्व मे अपना प्रचार और अध्ययन जारी रखा। ये सब-के-सब पक्के मार्क्सवादी थे, लेकिन मार्क्स का सिद्धान्त इग्लैण्ड या जर्मनी जैसे अत्यन्त उद्योग-प्रधान देशो के लिए सोचकर निकाला गया था। रूस अभीतक मध्यकालीन और कृषि-प्रधान था, उसके बडे शहरो मे उद्योगो का हाशिया मात्र था। इसलिए लेनिन ने मार्क्सवाद की बुनियादी बातो को इसी तरह के रूस के अनुकूल ढालना शुरू किया। इस विषय पर उसने बहुत अधिक लिखा। लेनिन यह मानता था कि कोई काम हो, वह विशेषज्ञो और प्रवीण लोगो के द्वारा किया जाना चाहिए। अगर क्रान्ति का प्रयत्न किया जानेवाला था तो लेनिन की राय थी कि लोगो को इस काम के लिए पूरी तरह तैयार किया जाना भी जरूरी था, ताकि जब कार्रवाई का समय आये तो वे साफ तौर से सोच सके कि उन्हे क्या करना है। सन १९०५ के दमन के बाद के अधियारे वर्षो का लेनिन और उसके साथियो ने अपने-आपको भावी कार्रवाई के लिए तैयार करने मे उपयोग किया।

सन १९१४ मे ही रूस का शहरी मजदूर-वर्ग जागृत होने लगा था

और दुबारा क्रान्तिकारी बन रहा था। बहुत-सी राजनैतिक हडतालें हुईं। तब युद्ध शुरू हो गया और इसने लोगो का सारा ध्यान खीच लिया और सबसे ज्यादा प्रगतिशील मजदूर सिपाही बनाकर मोर्चों पर भेज दिये गए। लेनिन और उसकी जमात ने शुरू से ही युद्ध का विरोध किया (अधिकतर नेता रूस से निर्वासित थे)।

रण-क्षेत्र मे रूसी सेना को भयकर क्षति उठानी पडी, शायद युद्ध मे उलझी हुई सब सेनाओ से अधिक। सैनिक लोगो मे आमतौर पर चतुरता का प्राकृतिक गुण बहुत कम होता है। रूसी सेनापति अयोग्य थे। रूसी सिपाही, जिनके पास अच्छे और पूरे हथियार न थे, और अक्सर जिन्हे न तो गोली-बारूद मिलती थी और न पीछे से सहायता, लाखो की सख्या में शत्रुदल के आगे धकेल दिये जाते थे और इस प्रकार मौत के मुह मे झोक दिये जाते थे। इसी बीच पीत्रोग्राद मे, तथा अन्य बडे शहरो मे जबरदस्त मुनाफाखोरी चल रही थी और सट्टेबाज लोग मालामाल बन रहे थे। ये 'देश भक्त' सट्टेबाज और मुनाफाखोर इसीलिए जोर-जोर से माग करते थे कि युद्ध अन्त तक लडा जाय। इसमे सन्देह नही कि अगर युद्ध चलता रहता तो इनका मनचीता हो जाता! लेकिन सिपाही और मजदूर और किसान वर्ग (जो सिपाही देता था) पस्त, भूखे और असतोष से भरे हो गये थे।

जार निकोलस बडा मूर्ख आदमी था और अपनी पत्नी जारीना के बहुत ज्यादा असर मे था। जारीना भी उतनी ही मूर्ख पर उससे ज्यादा जिद्दी थी। इन दोनो ने अपने चारो ओर लफगो और मूर्खों को जमा कर रखा था और किसीकी मजाल नही थी कि इनकी आलोचना करे। मामला यहातक पहुचा कि ग्रिगोरी रासपुटिन (रासपुटिन का अर्थ है 'गदा कुत्ता') नामक एक घृणित गुडा जारीना का मुख्य कृपापात्र बन गया और जारीना के जरिये से जार का भी। रासपुटिन एक गरीब किसान था, जो घोडो की चोरी के मामले मे झमेले मे पड गया था। इसने पवित्रता का बाना धारण करने का और फकीरी का लाभदायक पेशा अख्तियार करने का निश्चय किया। भारत की तरह रूस मे भी पैसा कमाने का यह आसान तरीका था। उसने अपने बाल बढाने शुरू किये और बालो के साथ उसकी प्रसिद्धि भी बढी, यहातक कि वह शाही दरबार मे जा पहुची। जार और जारीना का इक-

लौता पुत्र रोग के कारण कुछ अशक्त था और रासपुटिन ने किसी तरह जारीना को यह विश्वास दिला दिया कि वह उसे चगा कर देगा। बस, उसकी किस्मत खुल गई और कुछ ही समय मे वह जार और जारीना पर हावी हो गया और ऊची-से-ऊची नियुक्तिया उसीकी सलाह पर की जाने लगी। उसका जीवन बडा ही दुराचारपूर्ण था और वह भारी-भारी रिश्वते लेता था, लेकिन फिर भी उसने वर्षो तक अपना प्रभुत्व जमाये रखा।

इससे सबके दिलो मे नफरत पैदा हो गई, यहातक कि उदारदली और अमीर-वर्ग के लोग भी बडबड़ाने लगे और राजमहल की क्रान्ति की, यानी जार को जबरदस्ती बदल डालने की, चर्चा चलने लगी। इसी बीच जार निकोलस ने अपने-आपको अपनी सेना का प्रधान सेनापति बना लिया था और वह हर चीज को चौपट कर रहा था। सन १९१६ के अन्त से कुछ दिन पहले जार के कुटुम्ब के एक व्यक्ति ने रासपुटिन की हत्या कर डाली। लोगो ने इसका एक बला से छुटकारा पाने के रूप मे स्वागत किया, लेकिन इसके परिणामस्वरूप जार की खुफिया पुलिस का अत्याचार और भी बढ गया।

नाजुक घडी पैदा होने लगी। अन्न का अकाल पड गया और पीत्रोग्राद में भोजन के लिए दगे हो गये। फिर मार्च के प्रारम्भ मे मजदूरो की घोर पीडा मे से अप्रत्याशित और अपने-आप क्रान्ति पैदा हो गई। मार्च की ८ तारीख से लगाकर १२ तारीख तक के पाच दिनो मे इस क्रान्ति की शानदार विजय हो गई। यह कोई राजमहल का मामला नही था, न यह कोई सगठित क्रान्ति ही थी, जिसकी योजना चोटी के नेताओ ने होशियारी से बनाई हो। यह तो मानो नीचे से उठी थी, सबसे अधिक पददलित मजदूरो मे से उठी थी और बिना किसी जाहिरा योजना या नेतृत्व के अधे की तरह टटोलती हुई आगे बढी थी। स्थानीय बोल्शेविको समेत विभिन्न क्रान्तिकारी दल भौचक रह गये और यह नही सोच सके कि किस तरह का नेतृत्व दें। जनता ने खुद ही पहले कदम उठाया और जिस घडी उन्होने पीत्रोग्राद मे पडे हुए सिपाहियो को अपनी ओर मिला लिया, उन्हे विजय प्राप्त हो गई। इन क्रान्तिकारी जनसमूहो को विनाश पर उतारू अव्यवस्थित भीड़ समझने की गलती नही करनी चाहिए।

इस क्रान्ति के बारे मे महत्वपूर्ण तथ्य यह था कि इसमे, इतिहास में पहली बार, कारखानो के मजदूर-वर्ग ने, जिसे 'सर्वहारा वर्ग' कहा गया है, नेतृत्व किया था। यद्यपि इन मजदूरो के साथ उस समय कोई ऊंचे दरजे के नेता नही थे (लेनिन और अन्य नेता या तो कैदी थे या निर्वासित), फिर भी इनमे लेनिन की जमात द्वारा तैयार किये हुए कितने ही अज्ञात कार्यकर्ता थे। बीसियो कारखानो के इन अज्ञात मजदूरो ने सारे आन्दोलन को सहारा लगाकर बल दिया और उसे निश्चित मार्गों मे चलाया। यहा हम औद्योगिक जनसमूहो का वह रूप देखते है, जो अमली कारंवाई मे सामने आया, और ऐसा अन्यत्र कही भी नही हुआ।

८ मार्च को क्रान्ति की पहली गडगडाहट सुनाई देती है। नारिया नेतृत्व करती है और कपड़े के कारखानो की मजदूरनिया बाहर निकल आती है और बाजारो मे प्रदर्शन करती है। दूसरे दिन हडतालो का जोर बढ जाता है, अनेक मजदूर भी बाहर निकल आते हैं, रोटी की पुकार मचाई जाती है और 'निरकुशता का नाश हो' के नारे लगाये जाते है। अधिकारी लोग प्रदर्शनकारी मजदूरो को कुचलने के लिए कज्जाको को भेजते है, जो पहले भी सदा जारशाही के मख्य पुश्ते रहे थे। कज्जाक लोग भीड को धक्के मारकर तितर-बितर करते है, पर गोलिया नही चलाते और मजदूर बडी प्रसन्नता के साथ देखते है कि अपने सरकारी मुखडो के पीछे कज्जाक लोग असल मे उनके प्रति मैत्री भाव रखते है। तुरन्त ही लोगो का उत्साह बढ जाता है और वे कज्ज्ञाको से भाईचारा बढाने का प्रयत्न करते हैं। लेकिन पुलिस से घृणा की जाती है और उसपर पत्थर फेके जाते है। तीसरे दिन, १० मार्च को, कज्जाको के साथ भाईचारे की भावना बढती हुई नजर आती है यहातक कि यह अफवाह फैल जाती है कि लोगो पर गोलियां चलानेवाली पुलिस पर कज्जाको ने गोलिया चलाई। पुलिस बाजारो से हट जाती है। मजदूर नारिया सिपाहियों के पास जाती है और उनसे मार्मिक अपील करती हैं, सिपाहियो की सगीने आकाश की ओर उठ जाती है।

अगला दिन, ११ मार्च, इतवार होता है। मजदूर लोग शहर के बीच मे जमा होते है और पुलिस उनपर छिपे स्थानो से गोलिया चलाती है। कुछ

सिपाही भी लोगो पर गोलिया चलाते है; इसपर वे उस पलटन की बारको मे जाकर सख्त शिकायत करते है। पलटन का दिल पिघल जाता है और वह अपने गैर-कमीशनी अफसरो की मातहती मे जनता की रक्षा के लिए निकल पडती है, वह पुलिस पर गोलिया चलाती है। पलटन को गिरफ्तार किया जाता है, पर अब मामला हाथ से निकल चका होता है। १२ मार्च को विद्रोह अन्य पलटनो मे फैल जाता है और वे अपनी रायफले और मशीन-गने लेकर निकल पडती है। बाजारो मे खूब गोलिया चलती है, लेकिन यह कहना मुश्किल था कि कौन किसपर गोलिया चला रहा है। फिर सिपाही और मजदूर जाकर कुछ मत्रियो को (बाकी भाग चुके है), पुलिसवालों को और खुफिया विभाग के कर्मचारियो को गिरफ्तार कर लेते हैं। वे जेलो में पडे हुए पुराने राजनैतिक बन्दियो को रिहा कर देते है।

पीत्रोग्राद मे क्रान्ति की शानदार विजय हो चुकी थी। शीघ्र ही मास्को ने भी उसका अनुकरण किया। गावो के लोग इन घटनाओ को गौर से देख रहे थे। धीरे-धीरे किसान-वर्ग ने नई व्यवस्था को स्वीकार कर लिया, पर बिना उत्साह के। उनके लिए तो दो ही महत्वपूर्ण सवाल थे, धरती के स्वामी बनना और शान्ति के साथ रहना।

जार का क्या हुआ? इन घटनापूर्ण दिनो मे उसपर क्या बीत रही थी? वह पीत्रोग्राद मे नही था। वहा से बहुत दूर एक छोटे-से नगर मे था, जहा से प्रधान सेनापति की हैसियत से वह सेनाओ का सचालन कर रहा था। लेकिन उसका समय आ गया था और एक अति-पके फल की तरह वह बिना किसीका ध्यान खीचे टूटकर गिर पडा। महान बलशाली जार, सारे रूसियो का सबसे बडा निरकुश शासक, जिसके आगे लाखो थर्राते थे, 'पवित्र रूस' का 'नन्हा पिता' 'इतिहास के कचरा-पात्र मे' विलीन हो गया। यह अजीब बात है कि जब महान व्यवस्थाओ की नियति पूरी हो जाती है और उनकी जीवन-यात्रा सम्पूर्ण हो जाती है तो वे किस तरह ढह जाती है। जब जार ने पीत्रोग्राद मे मजदूरो की हड़तालो का और दगो का हाल सुना, तो उसने फौजी शासन की घोषणा की आज्ञा दी। कमान करनेवाले सेनापति ने इसे बाकायदा घोषित तो कर दिया, पर यह घोषणा न तो शहर मे प्रचारित की गई और न चिपकाई गई, क्योकि इस काम को करनेवाला

चन्द्रगुप्त और चाणक्य दोनो ही कोई नरम और दब्बू स्वभाव के न थे, जो भाग्य और होनहार के सामने सिर झुका देते। उनके दिमाग मे बडी-बडी और हौसले से भरी योजनाए थी और वे आगे बढना और सफलता प्राप्त करना चाहते थे। चन्द्रगुप्त शायद सिकन्दर के वैभव से चकित और आकर्षित हो गया था और उसके उदाहरण का अनुकरण करना चाहता था। चाणक्य के रूप मे उसे एक आदर्श मित्र और सलाहकार मिल गया था। ये दोनो ही सजग रहते थे और गौर से देखते रहते थे कि तक्षशिला मे क्या हो रहा है।

जल्दी ही उनको मौका मिल गया। ज्योही सिकन्दर के मरने की खबर तक्षशिला पहुची, चन्द्रगुप्त ने समझ लिया कि काम करने का समय आ गया है। उसने आस-पास के लोगो को उभारा और उनकी मदद से यूनानियो की फौज पर, जिसे सिकन्दर छोड गया था, आक्रमण कर दिया और उसे भगा दिया। तक्षशिला पर कब्जा करने के बाद चन्द्रगुप्त और उसके सहायको ने पाटलिपुत्र पर धावा किया और राजा नन्द को हरा दिया। यह ३२१ ई० पू०, अर्थात सिकन्दर की मृत्यु के सिर्फ पाच बरस बाद की बात है। इसी समय से मौर्य-वश का राज्य शुरु होता है। यह साफ-साफ पता नही चलता कि चन्द्रगुप्त 'मौर्य' क्यो कहलाया। कुछ लोगो का कहना है कि उसकी मा का नाम मुरा था, इसलिए वह मौर्य कहलाया और कुछका यह कहना है कि उसका नाना राजा के मोरो का रखवाला था और मोर को सस्कृत मे 'मयूर' कहते है। इस शब्द का मूल चाहे जो हो, यह चन्द्रगुप्त मौर्य के नाम से ही मशहूर है।

महाभारत तथा दूसरी पुरानी किताबो और कथाओ मे हमे चक्रवर्ती राजाओ का जिक्र मिलता है, जिन्होने सारे भारत पर राज्य किया। लेकिन हमे उस जमाने का ठीक हाल मालूम नही और न हम यही जानते है कि भारत या भारतवर्ष का विस्तार उस समय कितना था। यह मुमकिन है कि उस वक्त के जो किस्से चले आते है, उनमे पुराने राजाओ की शक्ति को बढा-चढाकर बताया गया हो। जो हो, चन्द्रगुप्त मौर्य का साम्राज्य इतिहास मे भारत के मजबूत और विस्तृत साम्राज्य की पहली मिसाल है। यह एक बहुत शक्तिशाली और उन्नत शासन था।

विजय के कारण उत्साह भरा हुआ था। पर अब सवाल यह पैदा हुआ कि इस विजय का वे क्या करे ? उन्होने सत्ता प्राप्त कर ली थी, उसका प्रयोग कौन करे ? उन्हे यह नही सूझा कि खुद सोवियत ही यह काम कर सकती है। उन्होने यह मान लिया कि मध्यम वर्ग को ही सत्ता ग्रहण करनी चाहिए। इसलिए सोवियत का एक शिष्ट-मडल पैर घसीटता दूमा के पास यह कहने के लिए गया कि वह शासन का कार्य सम्हाले। दूमा के अध्यक्ष और सदस्यों ने समझा कि ये लोग उन्हे गिरफ्तार करने आये है ! वे नही चाहते थे कि सत्ता का भार उनपर डाला जाय। वे इससे पैदा होनेवाले खतरो से डरते थे। लेकिन वे करते भी क्या ? सोवियत शिष्ट-मडल ने आग्रह किया और इन लोगो को इन्कार करने मे भी डर लगा। इसलिए बडी अनिच्छापूर्वक और परिणामो से डरते हुए, दूमा की एक कमेटी ने सत्ता स्वीकार करली और बाहर की दुनिया को यह मालूम पड़ा कि दूमा ही क्रान्ति का नेतृत्व कर रही है ! यह अजीब गडबडघोटाला था। अगर हम किसी कहानी में इन बातो को पढे तो हमे यकीन नही हो सकता कि ऐसी बाते हो सकती हैं। लेकिन सत्य घटनाए अक्सर कल्पित किस्सो से भी ज्यादा अद्भुत हुआ करती है।

दूमा की कमेटी ने जो काम-चलाऊ सरकार नियुक्त की, वह बहुत ही कट्टरपन्थी जमात थी और उसका प्रधान मत्री एक राजवशी था। उसी इमारत के दूसरे हिस्से मे सोवियत की बैठके होती थी और यह काम-चलाऊ सरकार के काम मे निरन्तर हस्तक्षेप करती रहती थी। लेकिन खुद सोवियत भी शुरू मे मद्धिम विचारो की थी और उसमे बोल्शेविको की सख्या मुट्ठी-भर थी। इस तरह एक दोहरी हुकूमत चल रही थी—यानी काम-चलाऊ सरकार और सोवियत—और इन दोनो के पीछे वे क्रान्तिकारी जन-समूह थे, जिन्होने क्रान्ति को सफल बनाया था और उससे बडी-बडी आशाए बाध रखी थी। नई सरकार से भूखी और युद्ध-थकित जनता को जो एक-मात्र मार्ग-प्रदर्शन मिला, वह यह था कि जबतक जर्मनो को परास्त न कर दिया जाय, तबतक उन्हे युद्ध को चलाते रहना चाहिए। उन्हे आश्चर्य था कि क्या इसीके लिए उन्होने क्रान्ति की मुसीबते झेली थी और जार को निकाला था !

ही कोई न मिला । जार ने अब भी इनसब घटनाओ की ओर से आखे मूदकर पीत्रोग्राद वापस जाना चाहा। रेल के मजदूरो ने रास्ते मे उसकी गाडी रोक ली। जारीना ने, जो उस समय पीत्रोग्राद के वाहर की एक वस्ती मे थी, जार को एक तार भेजा। तारघर ने उसपर पेसिल से यह लिखकर उसे लौटा दिया—"पानेवाले का पता-ठिकाना नामालूम।"

मोर्चे पर लडनेवाले सेनापतियो ने और पीत्रोग्राद मे रहनेवाले उदारदली नेताओ ने इन घटनाओ से भयभीत होकर और इस टूट-फूट मे से जो कुछ वच सके, बचाने की आशा करके जार से राजगद्दी छोड देने की प्रार्थना की। जार ने ऐसा ही किया और अपने एक कुटुम्बी को अपना उत्तराधिकारी नामजद कर दिया। लेकिन अब कोई जार नही होनेवाला था, रोमानोफ का घराना, तीनसौ वर्षो के निरकुश शासन के वाद, रूसी रगमच से सदा के लिए प्रस्थान कर गया।

अमीर वर्ग, जमीदार वर्ग, उच्च मध्यम वर्ग और उदारदली तथा सुधारक लोग तक भी श्रमिक वर्ग के इस विस्फोट को आतक और दहशत से देख रहे थे। जब उन्होने देखा कि जिस सेना पर वे भरोसा करते थे, वह भी मजदूरो से जा मिली तो वे उनके सामने अपने-आपको असमर्थ महसूस करने लगे। अभीतक वे यह निश्चय नही कर पाये थे कि विजय किस पक्ष की होगी, क्योकि सम्भव था कि ज़ार मोर्चे पर से सेना लेकर फिर प्रकट हो जाय और उसकी सहायता से बलवे को कुचल दे। इसलिए एक तरफ तो मजदूरो के डर ने, दूसरी तरफ जार के डर ने और साथ ही अपनी चमडी बचाने की अत्यधिक चिन्ता ने इनकी दशा बडी दयनीय बना दी थी। उस समय एक डूमा (ससद) मौजूद थी, जिसमे जमीदार वर्ग और उच्च मध्यम वर्ग के प्रतिनिधि थे। मजदूर भी कुछ हद तक इसे मानते थे, लेकिन इस नाजुक घडी मे आगे कदम बढाने या कुछ करने के बजाय उसके अध्यक्ष और सदस्य डर के मारे कापते हुए वैठे रहे और यह निश्चय न कर सके कि क्या किया जाय।

इसी दरमियान सोवियत का रूप बनने लगा। मजदूरो के प्रतिनिधियो के अलावा सिपाहियो के प्रतिनिधि भी इसमे शामिल कर दिये गए और नई सोवियत ने विशाल तौरीद राजमहल के एक हिस्से पर अधिकार कर लिया, जिसका कुछ भाग डूमा ने घेर रखा था। मजदूरो और सिपाहियो मे अपनी

गणतंत्र, (२) जमीदारी जागीरो की जब्ती, और (३) मजदूरो से दिन मे आठ घंटे काम। इन नारो ने तुरन्त ही किसान और मजदूर वर्गो के लिए संघर्ष मे वास्तविकता पैदा कर दी। उनके लिए यह अस्पष्ट और थोथा आदर्श नही रहा। वह जीवन और आशा की ज्योति बन गया।

लेनिन की नीति यह थी कि बोल्शेविक लोग मजदूरो के बहुमत को अपनी ओर मिला ले और इस प्रकार सोवियत पर कब्जा कर ले और फिर सोवियत कामचलाऊ सरकार से सत्ता छीन लें। वह तुरन्त दूसरी क्रान्ति के पक्ष मे नही था। उसका आग्रह था कि कामचलाऊ सरकार को उखाड़ फेंकने का समय आने से पहले मजदूरो और सोवियत के बहुमत को अपनी ओर मिला लेना जरूरी है। जो लोग सरकार के साथ सहयोग करना चाहते थे, उनके प्रति उसका रुख कठोर था। उसका कहना था कि यह क्रान्ति के साथ विश्वासघात करना है। इतना ही कठोर रुख उसका उनके प्रति था, जो उपयुक्त अवसर आने से पहले ही दौडकर इस सरकार को उलट देना चाहते थे।

बस, धीरज के साथ लेकिन अटल रूप मे, अनिवार्य नियति के किसी कर्ता की तरह, बर्फ का यह डला अपने अन्दर धधकती आग लिये हुए अपने निश्चित लक्ष्य की ओर बढा चला जा रहा था।

दोनो पक्षो के समझौतापरस्त लोगो ने कामचलाऊ सरकार और सोवियत के बीच के झगडे को टालने की चाहे जितनी कोशिशे की हो, परन्तु यह झगड़ा अनिवार्य था। सरकार मित्र-राष्ट्रो को युद्ध जारी रखकर और रूस के सम्पत्तिवान वर्ग को, जहातक हो सके उनकी मिल्कियतो की रक्षा करके, राजी रखना चाहती थी। जनता से अधिक सम्पर्क मे होने के कारण सोवियत ने उनकी सुलह की तथा किसानो के लिए धरती की माग को और दिन मे आठ घंटे काम वगैरह की मजदूरो की अनेक मागो को, अनुभव कर लिया। इस तरह हुआ यह कि सरकार को तो सोवियत ने बेकार कर दिया और खुद सोवियत जनता द्वारा बेकार कर दी गई, क्योकि जनता वास्तव मे दलो और नेताओ से कही अधिक क्रान्तिकारी थी।

यह प्रयत्न किया गया कि सरकार सोवियत के साथ ज्यादा मिलकर चले और केरेन्स्की नामक एक वामपक्षी वकील और प्रभावशाली वक्ता

ठीक इसी समय, १७ अप्रैल को, लेनिन आकर प्रकट हुआ। युद्ध के शुरू से आखिर तक वह स्वीजरलैण्ड मे रहा था, और जैसे ही उसने क्रान्ति का समाचार सुना, वह रूस आने के लिए छटपटाने लगा। पर वह आता कैसे ! अग्रेज और फ्रान्सीसी उसे अपने-अपने प्रदेशो मे होकर गुजरने की अनुमति नही देते थे, और न जर्मन तथा आस्ट्रियावासी ही। आखिरकार जर्मन सरकार खुद अपने ही मतलब से इस बात पर राजी हो गई कि वह एक मुहरबन्द रेलगाडी मे बैठकर स्वीजरलैण्ड की सरहद से रूसी सरहद तक जर्मनी मे होकर निकल जाय। उन्हे आशा थी, और इसके लिए कारण भी जरूर था कि लेनिन के रूस पहुचने से काम-चलाऊ सरकार और युद्ध-समर्थक दल कमजोर पड जायगे, क्योकि लेनिन युद्ध-विरोधी था और वे इसका फायदा उठाना चाहते थे। उन्हे यह कल्पना नही हुई कि यह अज्ञात-सा क्रान्तिकारी अन्त मे सारे यूरोप को और सारी दुनिया को हिला डालेगा।

लेनिन के दिमाग मे न तो कोई शका थी और न अस्पष्टता। उसकी तीक्ष्ण नजरे जनता के भाव-परिवर्तनो को पकड लेती थी। उसका सुलझा हुआ दिमाग सुविचारपूर्ण सिद्धान्तो को परिवर्तनशील परिस्थितियो मे प्रयोग कर सकता था और ढाल सकता था। उसकी अदमनीय इच्छा-शक्ति तात्कालिक परिणामो की परवा न करती हुई उसके सोचे हुए मार्ग को पकडे रहती थी। जिस दिन वह पहुचा, उसी दिन उसने बोल्शेविक दल को जोर से झझोड डाला, उनकी अकर्मण्यता की निन्दा की और जोश-भरे वाक्यो मे उन्हे बतलाया कि उनका कर्तव्य क्या था। उसका भाषण बिजली की धारा थी, जो दर्द भी पहुचाती है और साथ ही जान भी डालती है। जो क्रान्ति अभीतक नेतृत्वहीन और बिना मार्गदर्शक के अनिश्चित दिशा मे चली जा रही थी, उसे आखिर अपना नेता प्राप्त होगया। उपयुक्त अवसर ने उपयुक्त व्यक्ति पैदा कर दिया था।

लेनिन के आते ही सब बदल गया। उसने तुरन्त स्थिति की नाडी पहचान ली और सच्चे नेतृत्व की प्रतिभा से मार्क्स के कार्यक्रम को उसीके मुताबिक ढाल लिया। गरीब किसान-वर्ग के सहयोग से मजदूर-वर्ग का शासन कायम करने के लिए अब खुद पूजीवाद के विरुद्ध लड़ाई ठानी जानेवाली थी। बोल्शेविको के तीन तात्कालिक नारे ये थे : (१) लोकतत्री

ही थे) प्रमुख भाग लिया। यह आन्दोलन बढता गया, यहातक कि किसानों ने सामूहिक रूप मे जमीनो पर कब्जा कर लिया। जून तक इसका प्रभाव साइबेरिया के उपजाऊ मैदानो तक जा पहुचा। साइबेरिया मे बड़े-बड़े जमीदार नही थे, इसलिए किसान-वर्ग ने गिरजो और मठो की धरतियो पर कब्जा कर लिया।

ध्यान मे रखने की बात यह है कि बडी-बडी जागीरो की यह जब्ती पूर्णतया किसानो की ही ओर से शुरू हुई और बोल्शेविक क्रान्ति के कई महीने पहले हुई। लेनिन चाहता था कि जमीने तुरन्त व्यवस्थित तरीके से किसानो के नाम कर दी जाय। वह बेढगे अराजकतापूर्ण कब्जो का सख्त विरोधी था।

लेनिन के आगमन के ठीक एक महीने बाद एक और प्रमुख निर्वासित व्यक्ति पीत्रोग्राद लौट आया। यह त्रोत्स्की था, जो न्यूयार्क से वापस आया था। रास्ते मे अंग्रेजो ने इसे रोक लिया था। त्रोत्स्की न तो पुराना बोल्शेविक था और न अब वह मेनशेविक था। लेकिन वह बहुत जल्दी लेनिन का सहयोगी बन गया और इसने पीत्रोग्राद की सोवियत के एक अगुआ का स्थान प्राप्त कर लिया। यह महान वक्ता था, ऊचे दरजे का लेखक था और मानो शक्ति से परिपूर्ण बिजली की बैटरी था।

इस तरह पीत्रोग्राद मे तथा रूस के अन्य शहरो और गावो मे क्रान्ति का निरतर परिवर्तनशील नाटक चलता रहा। दुधमुहा बच्चा युवावस्था को पहुचा और बडा हो गया। युद्ध के भयकर बोझ के कारण हर जगह आर्थिक व्यवस्था टूटती नजर आ रही थी। लेकिन फिर भी मुनाफाखोर युद्ध के अपने मुनाफे कमाये चले जा रहे थे!

कारखानो मे और सोवियतो मे बोल्शेविको की ताकत और उनका प्रभाव दिन-पर-दिन बढ रहे थे। इससे चौकन्ना होकर केरेन्स्की ने उन्हे दबा देने का निश्चय किया। पहले तो लेनिन को बदनाम करने के लिए जबरदस्त धावा बोला गया और कहा गया कि वह जर्मनो का एजेण्ट है, जो रूस को मुसीबत मे फसाने के लिए भेजा गया है। क्या वह जर्मन अधिकारियो की रजामन्दी से जर्मनी मे होकर स्वीजरलैण्ड से नही आया? इससे मध्यम-वर्गो मे लेनिन बहुत अधिक बदनाम हो गया और वे उसे देशद्रोही समझने

सरकार का प्रमुख सदस्य बनाया गया। यह एक सर्वदली सरकार बनाने में सफल हुआ और उसमे सोवियत के बहुसख्यक मेनशेविक दल के भी कुछ प्रतिनिधि सम्मिलित हुए। इसने जर्मनी के विरुद्ध एक जोरदार हमला शुरू करके इग्लैण्ड और फ्रान्स को खुश करने का भी जी-तोड प्रयत्न किया। परन्तु यह धावा असफल रहा, क्योकि सेना और जनता अब अधिक युद्ध बिल्कुल नही चाहते थे।

इसी समय पीत्रोग्राद मे अखिल रूसी सोवियत काग्रेस के अधिवेशन हो रहे थे और हर अधिवेशन अपने पूर्ववर्ती अधिवेशन से अधिक उग्र होता जा रहा था। इनमे दिन-पर-दिन अधिक बोल्शेविक चुनकर आने लगे और दोनो महत्वपूर्ण दलो, यानी मेनशेविको और सामाजिक क्रान्तिकारियो (एक कृषक दल), का बहुमत कम होता गया। बोल्शेविको का प्रभाव बढ गया, खासकर पीत्रोग्राद के मजदूरो मे। सारे देश मे सोवियतें स्थापित हो गईं और जबतक सरकारी आज्ञाओ पर सोवियत की दस्तखती मन्जूरी न हो जाती, तबतक वे उन्हे नही मानती थी। कामचलाऊ सरकार की कमजोरी का एक कारण यह था कि रूस मे कोई मजबूत मध्यमवर्ग नही था।

इधर राजधानी में सत्ता के लिए खीचातानी चल रही थी, उधर किसान-वर्ग ने कानूनो को तोडना शुरू कर दिया। इन किसानो मे मार्च की क्रान्ति के प्रति अधिक उत्साह नही था, पर वे उसके विरुद्ध भी नही थे। वे तो हाथ-पर-हाथ धरे बैठे थे और मौका देख रहे थे। लेकिन बडी-बडी जागीरो के जमीदारो ने इस डर से कि, कही उनकी मिल्कियते जब्त न कर ली जाय, उन्हे छोटे-छोटे पट्टो मे बाट दिया और इन्हें नकली पट्टेदारो को इस गरज से दे दिया कि वे इन्हे इन जमीदारो की अमानत की तरह रखे। उन्होने अपनी बहुत-सी मिल्कियते विदेशियो के नाम भी कर दी। इस तरह उन्होने अपनी जमीदारियो को बचाने का प्रयत्न किया। किसानो ने इसे बिल्कुल पसन्द नही किया और उन्होने सरकार से कहा कि कानूनी आज्ञा निकालकर इस तरह जमीनो की बिक्रिया रोक दी जाय। सरकार आगा-पीछा करने लगी, वह कर ही क्या सकती थी ? वह किसी भी दल को चिढाना नही चाहती थी। तब किसानो ने खुद कार्रवाई शुरू कर दी। इसमे मोर्चों से लौटे हुए सिपाहियो ने (जो वास्तव मे किसान

एक साल के भीतर यह दूसरी क्रान्ति सफल हो गई थी और अभीतक यह गौर करने लायक शान्तिपूर्ण रही थी। सत्ता के हस्तान्तरित होने मे बहुत कम खून-खराबी हुई। मार्च मे इससे बहुत ज्यादा लडाई और मारकाट हुई थी। मार्च की क्रान्ति अपने-आप उठी थी और असगठित थी, नवम्बर की क्रान्ति की योजना खूब सोच-विचारकर बनाई गई थी। इतिहास मे पहली बार गरीब-से-गरीब वर्ग के, और खासकर मजदूर-वर्ग के, प्रतिनिधि किसी देश के शासक बने थे। लेकिन इनको इतनी आसानी से सफलता मिलनेवाली नही थी। इनके चारो ओर तूफान के बादल जमा हो रहे थे और भयकर वेग के साथ इनपर फट पडनेवाले थे।

लेनिन और उसकी नई बोल्शेविक सरकार के सामने क्या स्थिति थी? यद्यपि रूसी सेना छिन्न-भिन्न हो गई थी और उसके लडने की कोई सम्भावना नही रही थी, फिर भी जर्मनी के साथ युद्ध जारी था; सारे देश मे गड़बड़ मची हुई थी और सिपाहियो तथा लुटेरो के गिरोह मनमानी करते हुए घूमते फिर रहे थे; आर्थिक ढाचा टूट चुका था; भोजन-सामग्री की बहुत कमी थी और लोग भूखो मर रहे थे; चारो ओर पुरानी व्यवस्था के ठेकेदार क्रान्ति को पीस डालने की घात लगाये बैठे थे, राज्य का सगठन पूजीवादी था और अधिकतर पुराने सरकारी कर्मचारियो ने नई सरकार को सहयोग देने से इन्कार कर दिया, साहूकार लोगो ने रुपया देना बन्द कर दिया, यहातक कि तारघर भी तार नही भेजता था। यह ऐसी कठिन परिस्थिति थी, जो बहादुर-से-बहादुर का दिल दहलाने के लिए काफी थी।

लेनिन और उसके साथियो ने इस गाडी को चलाने के लिए मिलकर जोर लगाया। सबसे पहली चिन्ता उन्हे जर्मनी के साथ सुलह की थी और उन्होने तुरन्त युद्ध बन्द किये जाने का प्रबन्ध किया। दोनो देशो के प्रतिनिधि ब्रैस्त लितोवस्क मे मिले। जर्मन लोग खूब अच्छी तरह जानते थे कि बोल्शेविको मे लडने की शक्ति नही रही है, इसलिए उन्होने घमड और मूर्खतावश जबरदस्त और अपमानपूर्ण मागे रखी। सुलह के लिए बहुत उत्सुक होते हुए भी बोल्शेविक लोग इससे भौचक्के रह गये और उनमे से बहुतो ने इन शर्तो को ठुकरा देने की सलाह दी। लेकिन लेनिन किसी भी कीमत पर सुलह के पक्ष मे था।

लगे। केरेन्स्की ने लेनिन की गिरफ्तारी के लिए वारण्ट निकाला। लेनिन इस आरोप को गलत साबित करने के लिए अदालत के सामने जाने को उत्सुक था; लेकिन उसके साथी राजी नही हुए और उन्होने उसे भूमिगत हो जाने के लिए मजबूर किया। बहुत-से अन्य बोल्शेविक भी गिरफ्तार कर लिये गए; उनके अखबार बन्द कर दिये गए, जिन मजदूरो को उनका समर्थक समझा जाता था, उनके हथियार छीन लिये गए। कामचलाऊ सरकार के प्रति इन मजदूरो का रुख दिन-पर-दिन अधिक उग्र और डरावना होता जा रहा था और उसके विरुद्ध बार-बार जबरदस्त प्रदर्शन किये जाते थे।

घटनाएं बडी तेजी से आगे बढ रही थी। सोवियत निश्चित रूप से सरकार की प्रतिद्वन्द्वी बनती जा रही थी और अक्सर वह या तो सरकारी आज्ञाओ को रद्द कर देती थी या उनसे विपरीत हिदायते जारी कर देती थी। अब स्मालनी-इन्स्टीट्यूट पीत्रोग्राद मे सोवियत का केन्द्र और क्रान्ति का सदर मुकाम था। यह स्थान पहले अमीर-वर्ग की लड़कियो का गैर-सरकारी स्कूल था।

लेनिन पीत्रोग्राद के बाहर की बस्ती मे आ गया और बोल्शेविको ने निश्चय किया कि अब कामचलाऊ सरकार से सत्ता छीन लेने का समय आ गया है। हर बात की योजना सावधानी के साथ बना ली गई कि किन महत्वपूर्ण स्थानो पर किस तरह और कब कब्जा किया जाय। बलवे के लिए नवम्बर की ७ तारीख निश्चित की गई। उस दिन सोवियतो की अखिल रूसी काग्रेस का अधिवेशन होनेवाला था। यह तारीख लेनिन ने निश्चित की थी।

सात नवम्बर का दिन आया और सोवियत सिपाहियो ने जाकर सरकारी इमारतो पर, खासकर तारघर, टेलीफोन-घर और सरकारी बैंक-जैसे घात और जुगत के स्थानो पर कब्जा कर लिया। किसीने कोई मुकाबला नही किया। एक ब्रिटिश एजेण्ट ने इग्लैण्ड को जो सरकारी रिपोर्ट भेजी थी, उसमें उसने लिखा था, "कामचलाऊ सरकार तो मानो छू-मन्तर हो गई।"

लेनिन इस नई सरकार का सरदार यानी अध्यक्ष बना और त्रोत्स्की विदेश-मन्त्री।

चन्द्रगुप्त के राज्यकाल मे सिकन्दर के सेनापति सेल्यूकस ने, जिसे विरासत मे एशिया-कोचक से लेकर भारत तक के देशो का राज्य मिला था, अपनी सेना के साथ सिन्ध नदी पार कर भारत पर हमला किया। पर अपनी इस जल्दबाजी के लिए उसे बहुत जल्द पछताना पडा। चन्द्रगुप्त ने उसे बुरी तरह हरा दिया और जिस रास्ते से वह आया था, उसी रास्ते उसे अपना-सा मुह लेकर लौट जाना पडा। यहा से कुछ प्राप्त करने के बजाय उलटा उसे काबुल और हिरात तक गाधार या अफगानिस्तान का एक बहुत बडा हिस्सा चन्द्रगुप्त को दे देना पडा। चन्द्रगुप्त ने सेल्यूकस की लडकी से शादी भी कर ली। उसका साम्राज्य अब सारे उत्तरी भारत मे, अफगानिस्तान के एक हिस्से काबुल से बगाल तक और अरब सागर से बगाल की खाडी तक फैल गया। सिर्फ दक्षिण भारत उसके मातहत नही था। इस बडे साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र थी।

सेल्यूकस ने चन्द्रगुप्त के दरबार मे मेगस्थनीज को अपना राजदूत बनाकर भेजा था। मेगस्थनीज ने उस जमाने का बहुत ही दिलचस्प हाल लिखा है। लेकिन इससे ज्यादा दिलचस्प एक दूसरा वर्णन हमे मिलता है, जिसमे चन्द्रगुप्त के शासन का पूरा हाल है। किताब है कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र'। यह कौटिल्य और कोई नही, चाणक्य या विष्णुगुप्त है और अर्थशास्त्र का मतलब है 'सम्पत्ति का शास्त्र'।

'अर्थशास्त्र' मे इतने विषय है और इतनी विभिन्न बातो पर इसमे चर्चा की गई है कि उसके बारे मे विस्तार से बताना मुमकिन नही है। उसमे राजाओ के धर्म का, उसके मन्त्रियो और सलाहकारो के कर्तव्य का, राजपरिषद् का, शासन-विभागो का, वाणिज्य और व्यापार का, गाव और कस्बो के शासन का, कानून और अदालत का, सामाजिक रीति-रिवाजो का, स्त्रियो के अधिकार का, बूढे और असहाय लोगो के पालन का, शादी और तलाक का, टैक्स का, जल और थल-सेना का, लडाई और सुलह का, कूटनीति का, खेती-बाडी का, कातने और बुनने का, कारीगरो का, पासपोर्टो का, और जेलो तक का जिक्र है।

जब राजा राजगद्दी पर बैठते समय शासन का अधिकार पाता था तो उसे जनता की सेवा की शपथ लेनी पडती थी। उसे प्रतिज्ञा करनी

इधर तो सोवियत सुलह की शर्तों पर वाद-विवाद कर रही थी, उधर जर्मनी ने पीत्रोग्राद की ओर बढना शरू कर दिया और उन्होने अपना सुलह का प्रस्ताव पहले से भी ज्यादा सख्त कर दिया। अन्त मे सोवियत ने लेनिन की सलाह मान ली और मार्च सन १९१८ मे, ब्रैस्त लितोवस्क की सन्धि पर हस्ताक्षर कर दिये, हालाकि वह इसे बहुत नापसन्द करती थी। इस सन्धि के द्वारा रूसी प्रदेश का एक बडा टकडा जर्मनी ने हथिया लिया, लेकिन सोवियत को तो किसी भी कीमत पर सुलह मन्जूर करनी थी, क्योकि लेनिन ने कह दिया था कि "सेना ने तो अपनी टागो से (यानी युद्धक्षेत्र से भागकर) सुलह के पक्ष मे राय दे दी है।"

सोवियत ने पहले तो महायुद्ध मे फसी हुई तमाम शक्तियो मे एक व्यापक सुलह कराने का प्रयत्न किया। सत्ता पर अधिकार करने के दूसरे ही दिन उन्होने एक सरकारी घोषणा निकाली, जिसमे दुनिया भर के सामने सुलह का प्रस्ताव रखा था, और उन्होने यह बिल्कुल स्पष्ट कर दिया था कि वे जारशाही की तमाम गुप्त सन्धियो के अन्तर्गत दावो को छोडने के लिए तैयार है। उन्होने कहा कि कुस्तुन्तुनिया तुर्को के ही कब्जे मे रहना चाहिए और इसके अलावा भी कोई देश किसी दूसरे देश के हिस्सो को नही हथियाये। सोवियत के प्रस्ताव का किसीने जवाब नही दिया, क्योकि दोनो युद्ध-रत दलो को अभी अपनी-अपनी जीत की आशा थी और दोनो युद्ध की लूट मे हाथ मारना चाहते थे। इसमे शक नही कि यह प्रस्ताव करने मे सोवियत का उद्देश्य कुछ हद तक केवल बाहरी प्रचार था। वे हर देश की जनता पर और युद्ध से थके हुए सिपाही-वर्ग पर असर डालना चाहते थे और दूसरे देशो मे सामाजिक क्रान्तिया भडकाना चाहते थे, क्योकि उनका उद्देश्य ससार-व्यापी क्रान्ति था, वे समझते थे कि इसी तरीके से वे खुद अपनी क्रान्ति की रक्षा कर सकते है। सोवियत के इस प्रचार का फ्रान्सीसी और जर्मन सेनाओ पर बडा भारी असर पडा।

ब्रैस्त लितोव्स्क की सन्धि को लेनिन एक अस्थायी चीज़ समझता था, जो ज्यादा दिन टिकनेवाली नही थी। हुआ यह कि नौ महीने बाद, ज्योही मित्र-राष्ट्रो ने पश्चिमी मोर्चे पर जर्मनी के दात खट्टे किये, सोवियत ने इस सन्धि को रद्द कर दिया। लेनिन तो केवल यह चाहता था

कि सेना के थके हुए मजदूरो और किसानो को जरा आराम और दम लेने का मौका मिल जाय, ताकि वे अपने-अपने घरो को वापस जाकर खुद अपनी आंखो से देख सके कि क्रान्ति ने क्या बात पैदा कर दी है। वह चाहता था कि किसान लोग महसूस करें कि जमीदार खत्म हो गये ह और वे धरती के मालिक है। इससे वे क्रान्ति का मूल्य समझने लगेगे और उसकी रक्षा के लिए उत्सुक होगे। बस, लेनिन का यही विचार था, क्योकि वह खूब जानता था कि गृह-युद्ध आनेवाला है। उसकी यह नीति बाद मे बडी शानदार सफलता के साथ सही साबित हुई। ये किसान और मजदूर मोर्चों से अपने-अपने खेतो और कारखानो को वापस लौटे; वे बोल्शेविक या समाजवादी नही थे लेकिन वे क्रान्ति के सबसे कट्टर समर्थक बन गये, क्योकि वे उस चीज को नही छोड़ना चाहते थे, जो उन्हे क्रान्ति के द्वारा मिली थी।

बोल्शेविक नेता इधर तो जर्मनी से किसी-न-किसी तरह समझौते का प्रयत्न कर रहे थे, उधर उन्होने अन्दरूनी परिस्थितियो पर भी ध्यान देना शुरू किया। मशीनगनो और युद्ध के सामान से लैस बहुत-से भूतपूर्व सैनिक अफसर और ले-भग्गू लूटेरो का धन्धा कर रहे थे और बड़े-बड़े शहरो के ठेठ बीच मे मारकाट और लूटपाट मचा रहे थे। पुराने अराजकता-वादी दलो के भी कुछ सदस्य थे, जो सोवियतो को पसद नही करते थे और बहुत गडबड़ मचा रहे थे। सोवियत अधिकारियो ने इन धाडैतियों वगैरह का जोरो से दमन किया और उन्हे खत्म कर दिया।

सोवियत शासन को इससे भी बडा खतरा विभिन्न मुल्की विभागो के कर्मचारियो की ओर से पैदा हुआ, जिनमे से बहुतो ने बोल्शेविको के मातहत काम करने से या उन्हे किसी तरह का सहयोग देने से इन्कार कर दिया। लेनिन ने यह नियम बनाया कि "जो काम नही करेगा, वह खाना भी नही खायेगा"—काम नही तो खाना भी नही। इसलिए सहयोग न देनेवाले सरकारी नौकरो को तुरन्त बरखास्त कर दिया गया। साहूकारो ने अपनी तिजोरिया खोलने से इन्कार कर किया तो वे डाइनामाइट से उडा दी गईं। लेकिन पुरानी व्यवस्था का सहयोग देनेवाले नौकरो के द्वारा लेनिन की अवज्ञा का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण तब देखने मे आया, जब प्रधान सेनापति ने आज्ञा-पालन से इन्कार किया। उसे तुरन्त बरखास्त किया गया और पाच मिनट

के अन्दर क्राइलैन्को नामक एक नौजवान बोल्शेविक लेफ्टिनेन्ट प्रधान सेनापति बना दिया गया।

सोवियत शासन के पहले नौ महीनो मे रूस के लोगो के जीवन मे कुछ ज्यादा अन्तर नही पडा। बोल्शेविको ने आक्षेपो और गालियो तक को भी बरदाश्त किया और बोल्शेविक-विरोधी अखबार निकलते रहे। जनता आमतौर पर भूखी मर रही थी, लेकिन धनवानो के पास अब भी शान-शौकत और विलास के लिए खब पैसा था। बडे-बडे नगरो मे उच्चवर्गीय लोग सोवियत सरकार के पतन की आशा मे खुल्लम-खल्ला खुशिया मनाते थे। ये लोग, जो पहले देशभक्ति की दुहाई देकर जर्मनी के विरुद्ध युद्ध जारी रखने के लिए उत्सुक थे, अब अपनी राजधानी पर जर्मनो का अधिकार हो जाने की सम्भावना पर बहुत खश नजर आते थे। सामाजिक क्रान्ति इन्हे जितनी अधिक बुरी चीज मालूम होती थी, उतना विदेशी प्रभुत्व नही। करीब-करीब हमेशा ऐसा ही हुआ करता है, खासकर जब वर्गो का मामला होता है।

इस प्रकार जनता का जीवन बहुत करके हस्ब-मामूल चल रहा था। जब पीत्रोग्राद पर जर्मनो का खतरा बढ गया था, तब सोवियत सरकार मास्को चली गई थी और तब से मास्को ही उसकी राजधानी चला आ रहा था। मित्र-राष्ट्रो के राजदूत अभीतक रूस मे ही थे।

मगर इस जाहिरा शान्ति के नीच अनेक अनुकूल और प्रतिकूल धाराएं बह रही थी। किसीको भी, यहातक कि खुद बोल्शेविको को भी, यह आशा नही थी कि बोल्शेविक ज्यादा दिन टिक जायगे। हर आदमी साजिशो मे लगा था। जर्मनो ने दक्षिण रूस के यूक्रेन में एक कठपुतली राज्य स्थापित कर दिया था और सुलह के बावजूद उनकी ओर से सोवियत को अन्देशा बना हुआ था। मित्र-राष्ट्र अलबत्ता जर्मनो से घृणा करते थे, पर बोल्शेविको से वे उससे भी अधिक घृणा करते थे। हा, अमरीका के राष्ट्रपति विल्सन ने सन १९१८ के शुरू मे सोवियत काग्रेस को हार्दिक शुभकामनाए जरूर भेजी थी। पर बाद में मालूम होता है, वह पछताया और उसने अपने विचार बदल दिये। मतलब यह कि मित्र-राष्ट्र प्रति-क्रान्ति की कार्रवाइयो को चुपचाप धन से तथा अन्य

प्रकार से सहायता दे रहे थे और खुद भी गुप्त रूप से उनमे भाग ले रहे थे। मास्को विदेशी जासूसो से भरा पडा था। ब्रिटिश गुप्तचर-विभाग का प्रधान कार्यकर्ता, जो इग्लैंड का उस्ताद जासूस माना जाता था, सोवियत सरकार को झमेले मे डालने के लिए वहा भेजा गया था। जिन अमीरो और उच्चवर्गीय लोगो की जमीन-जायदाद छीन ली गई थी, वे मित्र-राष्ट्रो के पैसे की मदद से जनता को निरन्तर प्रतिक्रान्ति के लिए भडका रहे थे।

सन १९१८ के जुलाई मास मे रूस की स्थिति म चौका देनेवाली घटनाए सामने आई। बोल्शेविको के चारो ओर फैला हुआ जाल धीरे-धीरे उन्हे जकडता आ रहा था। दक्षिण मे यूक्रेन की तरफ से जर्मन चढे आ रहे थे और इधर रूस मे चेकोस्लोवाकिया के अनेक पुराने युद्ध-बन्दियो को मित्र-राष्ट्र मास्को पर धावा बोलने के लिए उकसा रहे थे। फ्रान्स मे सारे पश्चिमी मोर्चे पर महायुद्ध अभीतक चल रहा था, लेकिन रूस मे यह अजीब दृश्य नजर आ रहा था कि मित्र-राष्ट्र और जर्मन शक्तिया दोनो अलग-अलग, बोल्शेविको को कुचलने के एक-समान उद्देश्य को पूरा करने मे जुटी हुई थी। इन शक्तियो ने रूस के विरुद्ध बाकायदा युद्ध की घोषणा नही की थी; उन्होने तो सोवियत को परेशान करने के लिए बहुत-से अन्य तरीके निकाल लिये थे, खासकर प्रतिक्रान्ति के नेताओ को उकसाना और उन्हें हथियारो की तथा पैसे की मदद देना। कई पुराने ज़ारशाही सेनापति भी सोवियत के विरुद्ध रण-क्षेत्र मे लड रहे थे।

जार और उसके कुटुम्बी पूर्वी रूस मे यूराल पर्वत-श्रेणी के पास स्थानीय सोवियत की निगरानी मे कैदी बनाकर रखे गये थे। इस प्रदेश मे चेक सैनिको के चढ आने से यह स्थानीय सोवियत डर गई और इस सम्भावना ने कि कही भूतपूर्व जार कैद से छूटकर प्रतिक्रान्ति का जबरदस्त केन्द्र न बन जाय, उसे एकदम भयभीत कर दिया। इसलिए उन्होने कायदे-कानून को ताक मे रखकर जार के सारे कुटुम्ब को मौत के घाट उतार दिया। मालूम होता है कि सोवियत की केन्द्रीय कमेटी इसके लिए जिम्मेदार नही थी और लेनिन, अन्तर्राष्ट्रीय नीति के कारणो से भूतपूर्व जार को, और मानवता के नाते उसके कुटुम्ब की, हत्या के विरुद्ध था। लेकिन जब यह काम

हो ही गया तो केन्द्रीय सरकार न उसे न्यायोचित ठहराया। शायद इस घटना ने मित्र-राष्ट्रीय सरकारो को और भी ज्यादा बौखला दिया और उन्हे पहले से भी अधिक उग्र बना दिया।

अगस्त मे स्थिति और भी बिगड गई और दो घटनाओ के फलस्वरूप क्रोध, निराशा और आतक पैदा हो गये। इनमे से एक तो थी लेनिन की हत्या का प्रयत्न, और दूसरी थी उत्तरी रूस में आर्खेंउल पर मित्र-राष्ट्रो की फौज का उतरना। मास्को मे बेतहाशा सनसनी फैल गई और सोवियत के अस्तित्व का अन्त सामने नजर आने लगा। खुद मास्को भी एक प्रकार से जर्मनो, चेको, प्रतिक्रान्तिकारी तत्वो आदि शत्रुओ से घिरा हुआ था। मास्को के इर्द-गिर्द कुछ ही जिले सोवियत के शासन मे रह गये थे और मित्र-राष्ट्रीय सेना के उतरने से अन्त बिल्कुल निश्चित दिखाई दे रहा था। बोल्शेविको के पास कुछ अधिक सेना नही थी, ब्रैस्त लितोवस्क की सन्धि को पाच ही महीने हुए थे, और पुरानी सेना के अधिकतर सिपाही सेना छोड-छोडकर खेती मे जा लगे थे। खुद मास्को में ही षडयन्त्रो की भरमार थी और उन्च वर्ग के लोग सोवियतो के सम्भावित पतन पर खुले आम खुशिया मना रहे थे।

नौ महीने की आयुवाले इस सोवियत गणतत्र की ऐसी भयकर मुसीबतभरी दशा थी। बोल्शेविको को निराशा और भय ने घेर लिया, और जब उन्होने देखा कि हर हालत में मरना ही है तो निश्चय कर लिया कि लडते-लडते ही मरना चाहिए। वे चारो ओर से घिरे हुए जगली जानवर की तरह अपने शत्रुओ पर टूट पडे। उन्होने सहनशीलता और दया दोनो को तिलाजलि दे दी। सारे देश मे फौजी कानून जारी कर दिया गया और सितम्बर के शुरू मे केन्द्रीय सोवियत कमेटी ने 'लाल आतक' का ऐलान कर दिया—"तमाम देशद्रोहियो के लिए मौत, विदेशी आक्रमणकारियो के विरुद्ध निर्मम यद्ध।" सोवियत सारी दुनिया के मुकाबले मे और खद अपने प्रतिगामियो के मुकाबले मे डटकर खडी हो गई। सारा देश मानो शत्रुओ से घिरी हुई छावनी बना दिया गया। लाल सेना को सगठित करने का पूरा प्रयत्न किया गया।

यह सितम्बर और अक्तूबर, १९१८ के लगभग की बात है, जब

पश्चिम मे जर्मनी की युद्ध-व्यवस्था टूट रही थी और युद्ध-विराम की चर्चा चल रही थी।

११ नवम्बर, १९१८ को मित्र-राष्ट्रो और जर्मन-शक्तियो के बीच सुलह हो गई और युद्ध-विराम पर हस्ताक्षर हो गये। लेकिन रूस मे १९१९ और १९२० मे गृह-युद्ध जोर-शोर से लगातार चलता रहा। सोवियत ने अकेले दम शत्रुओ के झुड-के-झड का मुकावला किया। एक वक्त तो ऐसा था जब सोवियत सेना पर सत्रह विभिन्न मोर्चो पर एक साथ हमले हुए। इग्लैड, अमरीका, फ्रान्स, जापान, इटली, सर्बिया, चेकोस्लोवाकिया, रूमानिया, बाल्टिक तटवर्ती राज्य, पोलैड और ढेरो प्रतिक्रान्तिकारी रूसी सेनापति, सब-के-सब सोवियत के विरुद्ध लड रहे थे। यह लडाई ठेठ साइबेरिया से लगाकर बाल्टिक समुद्र और क्रीमिया तक फैली हुई थी। बार-बार ऐसा मालूम होता था कि सोवियत का अन्त होनेवाला है, मास्को भी खतरे मे पड गया था, पीत्रोग्राद का शत्रु के आगे पतन होने ही वाला था, परन्तु सोवियत हर सकट को पार कर गई और हर सफलता के साथ उसका आत्म-विश्वास और बल बढते गये।

प्रतिक्रान्तिकारी नेताओ मे एक एडमिरल कोलचक था। वह अपने-आपको रूस का शासक कहने लगा और मित्र-राष्ट्रो ने सचमुच उसे ऐसा मान भी लिया और बहुत सहायता दी। साइबेरिया मे इसने जो हरकत की उसका वर्णन उसके युद्ध-साथी जनरल ग्रेव्ज ने किया है, जो कोलचक को मदद देनेवाली अमरीकी सेना का सेनापति था—"बडी भयंकर हत्याएं हुई, लेकिन जैसा दुनिया का विश्वास है, वे बोल्शेविको ने नही की थी। जब मै यह कहता हू कि बोल्शेविको द्वारा एक-एक मनुष्य की हत्या के मुकाबले मे बोल्शेविक-विरोधियो ने पूर्वी साइबेरिया मे सौ-सौ मनुष्यो को मौत के घाट उतारा तो मेरे इस कथन मे जरा भी अतिशयोक्ति नही है।"

मित्र-राष्ट्रो ने रूस की नाकाबन्दी भी कर दी और यह इतनी कारगर हुई कि १९१९ के पूरे वर्ष मे रूस न तो बाहर से कुछ भी खरीद सका और न बाहर कुछ बेच सका।

इन जबरदस्त कठिनाइयो तथा अनेक शक्तिशाली दुश्मनो के बावजूद सोवियत रूस सही-सलामत रह गया और उसने शानदार विजय प्राप्त

नीति चलाई। इसके द्वारा किसान को उत्पादन करने की और अपनी उपज को बेचने की अधिक आजादी मिल गई और कुछ खानगी व्यापार भी खोल दिया गया। कुछ हद तक यह ठेठ साम्यवादी सिद्धान्तो से परे हटना था, लेकिन लेनिन ने इसे अस्थायी तदबीर कहकर उचित ठहराया। इससे जनता को अवश्य ही राहत मिली। लेकिन शीघ्र ही रूस को एक और आफत का सामना करना पडा। यह अनावृष्टि के कारण, और उसके फलस्वरूप दक्षिण-पूर्वी रूस के लम्बे-चौडे प्रदेश मे फसल की हानि के कारण, पडनेवाला अकाल था। यह भयकर अकाल था। इतिहास मे इससे बडा अकाल पहले कभी नही पडा था, और इसमे लाखो जनता भूखी मर गई। इस अकाल से सरकार का सारा ढाचा ही टूट जाने की सम्भावना थी, क्योकि एक तो यह वर्षो के युद्ध और नाकेबन्दी और आर्थिक व्यवस्था की गडवडी के वाद ही आ पडा था, और दूसरे तबतक सोवियत सरकार को शान्ति के समय निश्चिन्त होकर काम करने का मौका नही मिला था। पर फिर भी, जिस प्रकार सोवियत पहले की आफतो को पार कर गई थी, उसी प्रकार इसे भी सही-सलामत पार कर गई। यूरोपीय सरकारो का एक सम्मेलन यह विचार करने के लिए हुआ कि अकाल का कष्ट दूर करने के लिए क्या सहायता देनी चाहिए। उन्होने घोषणा की कि वे तबतक कोई सहायता नही देगे, जबतक कि सोवियत सरकार जारशाही के उन पुराने कर्जो को चुकाने का वादा न करे, जिन्हे उसने रद कर दिया था। साहूकारी की भावना मानवता की भावना से ज्यादा जोरदार साबित हुई। और रूसी माताओ की अपने मृतप्राय बच्चो के लिए मर्मस्पर्शी अपील पर भी कोई ध्यान नही दिया गया।

जब इग्लैड तथा अन्य यूरोपीय देशो ने रूस के अकाल मे सहायता देने से इन्कार किया तो इसका यह मतलब नही था कि वे अन्य मामलो मे सोवियत का बहिष्कार कर रहे थे। सन् १९२१ के शुरू मे ही एक आग्ल-रूसी व्यापारिक सधि पर हस्ताक्षर हो चुके थे और अन्य देशो ने भी इसका अनुकरण करके सोवियत के साथ व्यापारिक सधिया कर ली थी।

चीन, तुर्की, ईरान, अफगानिस्तान आदि पूर्वी देशो के प्रति सोवियत

ने वडी उदार नीति का पालन किया। उन्होने पुराने जारशाही विशेषाधिकार छोड दिये और वहुत मित्रतापूर्ण व्यवहार करने का प्रयत्न किया। यह चीज तमाम परावीन और शोषित कौमो के लिए आजादी के उनके सिद्धान्तो के अनुसार थी, लेकिन उनके लिए इससे भी अविक महत्वपूर्ण अभिप्राय था अपनी स्थिति मजवूत वनाना। सोवियत रूस की इस उदारता से इग्लैड़ जैसी साम्राज्यशाही शक्तिया अक्सर खोटी स्थिति मे पड जाती थी, क्योकि पूर्वी देश जव तुलनाए करते थे तो उन्हें इग्लैड तथा अन्य शक्तिया हेच मालूम पडती थी।

सन १९१९ मे एक और घटना हुई, जिसका जिक्र यहा करना जरूरी है। यह थी साम्यवादी दल द्वारा मास्को मे तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय सघ की स्थापना। वोल्शेविको की धारणा थी कि द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय सघ को स्थापित करनेवाले पुराने मजदूर तथा साम्यवादी दलो ने श्रमजीवी वर्ग को धोखा दिया। इसलिए इन्होने स्पष्ट क्रान्तिकारी दृष्टिकोणवाला तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय सघ वनाया, ताकि पूजीवाद और साम्राज्यवाद के विरुद्ध और उन अवसरवादी साम्राज्यवादियो के विरुद्ध भी युद्ध लडा जाय, जो 'मध्यम-मार्ग' की नीति के अनुगामी थे। इस अन्तर्राष्ट्रीय सघ को अक्सर 'कामिन्टर्न' भी कहा जाता है और अनेक देशो मे प्रचार-कार्य मे इसने वडा भारी भाग लिया है।

युद्ध के वाद पश्चिमी यूरोप मे द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय संघ (श्रमजीवी और साम्यवादी अन्तर्राष्ट्रीय सघ) भी पुनर्जीवित किया गया। वहुत हद तक द्वितीय तथा तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय सघो का, कम-से-कम सिद्धान्तरूप मे, एक ही ध्येय है। परन्तु दोनो की विचारधाराए और तरीके विल्कुल अलग-अलग है और दोनो एक दूसरे के कट्टर विरोधी है। ये आपस में लडते-झगडते रहते है और एक-दूसरे पर ऐसे आक्रमण करते है, जैसे अपने आपसी शत्रु पूजीवाद पर भी नही करते। द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय सघ अव एक प्रतिष्ठित संगठन वन गया है और इसके सदस्य अक्सर यूरोपीय सरकारो के मंत्रिमंडलो मे शामिल होते रहते है। तृतीय सघ क्रान्तिकारी सगठन चला आ रहा है, इसलिए यह प्रतिष्ठित नही माना जाता।

रूस के गृह-युद्ध में शुरू से आखिर तक 'लाल आतंक' और 'श्वेत

आतक क्रूर निर्दयता में एक-दूसरे से होड लगाते रहे, और इसमें शायद श्वेत आतक लाल आतक से जबरदस्त बाजी ले गया। साइबेरिया में कोलचक के अत्याचारो के बारे में अमरीकी सेनापति के वर्णन से तथा अन्य वर्णनो से यही परिणाम निकलता है। लेकिन इसमें भी कोई सन्देह नही हो सकता कि लाल आतक भी कठोर था और इसका फल अनेक निर्दोष व्यक्तियो को भोगना पडा होगा। वोल्शेविको पर सब तरफ से आक्रमण हो रहे थे और वे चारो ओर षडयन्त्रो तथा जासूसो से घिरे हुए थे, इसलिए उनकी मानसिक स्थिरता नष्ट हो गई और जरा भी सन्देह होने पर वे वडी कठोर सजाए देने लगे, खासकर उनकी राजनैतिक पुलिस, जो "चेका" कहलाती थी, इस आतक के लिए वहुत वदनाम थी। यह भारत मे 'सी० आई० डी०' के समकक्ष थी, परन्तु इसके अधिकार वहुत वढे-चढे थे।

लेनिन के वारे मे कुछ और वातें वतलाना चाहता हू। अगस्त, १९१८ मे, जब उसकी हत्या का प्रयत्न किया गया था, तब उसे गहरे घाव लगे थे। परन्तु इनके वावजूद उसने कुछ विश्राम नही लिया था। वह काम के जबरदस्त बोझ को निबटाता रहा और इसका अनिवार्य परिणाम यह हुआ कि मई, १९२२ मे उसकी हालत गिर गई। कुछ विश्राम के बाद वह फिर काम में लग गया, पर ज्यादा दिन के लिए नही। सन १९२३ मे उसकी हालत पहले से भी अधिक बिगड गई और वह फिर नही सम्हल सका। २१ जनवरी, सन १९२४ ई० को, मास्को के निकट उसकी मृत्यु हो गई।

कई दिनो तक उसका शव मास्को मे रखा रहा—सरदी का मौसम था और रासायनिक मसाले लगाकर शव को वर्षो तक के लिए टिकाऊ वना दिया गया था। जनसाधारण के प्रतिनिधि, किसान और मजदूर, नर और नारिया और बच्चे, सारे रूस से तथा साइबेरिया के दूरवत मैदानो से, अपने उस परमप्रिय साथी पर श्रद्धा की अन्तिम भेट चढाने आये, जिसने उन्हे गहरे गर्त मे से खीचकर वाहर निकाला था और परिपूर्ण जीवन का मार्ग दिखाया था। उन्होने मास्को के मनोहर 'लाल चौक' मे उसके लिए एक सादा और सजावट-रहित मकवरा वनाया। उसका शव एक काच के सन्दूक मे अभीतक वहा रखा हुआ है और हर शाम को लोगो की एक वहुत

लम्बी कतार खामोशी के साथ उसके पास से गुजरती है। लेनिन को मरे बहुत वर्ष नही बीते है, लेकिन इतने थोडे समय मे ही वह न केवल अपने रूस मे, बल्कि सारे ससार मे, एक प्रबल परम्परा का सस्थापक बन गया है। जैसे-जैसे समय बीतता है, उसकी महानता को चार चाद लगते जाते हैं, वह ससार के अमर-जनो की सर्वोत्कृष्ट श्रेणी मे गिना जाने लगा है। पीत्रोग्राद अब लेनिनग्राद हो गया है, और करीब-करीब हर रूसी घर मे एक लेनिन कोष्ठ होता है, या लेनिन का चित्र होता है। परन्तु लेनिन जीवित है, यादगारो मे या तस्वीरो मे नही, बल्कि अपने किये हुए जबरदस्त कार्यो मे, और करोडो श्रम-जीवियो के हृदयो मे, जो उसके उदाहरण से स्फूर्ति और अच्छे दिनो की आशा का सन्देश प्राप्त करते है।

यह न समझना चाहिए कि लेनिन कोई मानवताहीन यत्र था, जो अपने कार्य मे डूबा रहता था और इसके सिवा और कोई बात नही सोचता था। वह अपने कार्य का और जीवन के उद्देश्य का अनन्य पुजारी अवश्य था, लेकिन साथ ही उसमे यह भावना लेशमात्र भी नही थी कि लोग उसकी ओर आखे लगाये हुए है। वह तो एक मूर्तिमान विचार था। और इसपर भी उसमे बहुत मनष्यता थी, और मनुष्योचित गुणो मे सर्वश्रेष्ठ गुण था—दिल खोल-कर हँसने की क्षमता। मास्को-स्थित ब्रिटिश एजेण्ट लाकहार्ट, जो सोवियत के खतरे के दिनो मे वहा था, लिखता है कि चाहे जो हो जाय, लेनिन हमेशा खुशमिजाज रहता था। अपनी बातचीत मे और अपने कार्य मे सीधा और सच्चा, तथा लम्बी-चौडी बातो से और ढोग से घृणा करनेवाला। वह सगीत-प्रेमी था, यहातक कि उसे डर लगा रहता था कि इस सगीतप्रेम का उसपर इतना अधिक असर न हो जाय कि वह कार्य-शिथिल बन जाय।

स्त्रियो के बारे मे लेनिन ने एक बार कहा था—"जबतक आधी आबादी रसोईघर मे गुलामी करती रहेगी तबतक कोई राष्ट्र आजाद नही हो सकता।" एक दिन जब वह कुछ बच्चो को दुलार रहा था, उसने बड़े भेद की बात कही थी। उसका पुराना मित्र मैक्सिम गोर्की लिखता है कि उसने कहा था, "इनके जीवन हमारे जीवन से अधिक आनन्दमय होगे। इन्हे उन बहुत-सी मुसीबतो का अनुभव नही करना पडेगा, जिन्हे हम लोगो ने पार किया है। इन्हे अपने जीवन मे इतनी अधिक क्रूरता नही देखनी पडेगी।"

अन्त मे मै पूरे वाद्य-बृंद के लिए तथा लोगो के सम्मिलि
गान के लिए लिखी गई एक रचना की शब्दावली दूगा। जिन लोगो ने इ
सुना ह, उनका कहना है कि इसके सगीत मे सजीवता और शक्ति है औ
यह गीत मानो विद्रोही जनता की भावना का प्रतीक है। इस गीत का जो
हिन्दी अनुवाद यहा दिया जा रहा है, उसमे भी इस भावना का कुछ अश अ
जाता है। यह गीत 'अक्तूबर' कहलाता है और इसका अर्थ है नवम्बर
सन १९१७ की बोल्शेविक क्रान्ति। उन दिनो रूस मे वह पचाग
प्रचलित था, जो असशोधित पचाग कहलाता है और इसमे तथा प्रचलि
पश्चिमी पचाग मे तेरह दिन का अन्तर था। इस पचाग के अनुसार मार्च,
१९१७ की क्रान्ति फरवरी मे हुई और इस कारण वह "फरवरी की
क्रान्ति' कहलाती है। इसी प्रकार नवम्बर, १९१७ के प्रारम्भ
मे होनेवाली वोल्शेविक क्रान्ति 'अक्तूबर की क्रान्ति' कहलाती है। अब
रूस ने अपना पचाग बदल दिया है और सशोधित पचाग ग्रहण कर लिया
है। पर ये पुराने नाम अभीतक उपयोग मे आते है।

**हम काम और रोटी की भीख मांगने के लिए गये,**
**हमारे हृदय पीडा से दबे हुए थे,**
**कारखानो की चिमनिया आकाश की ओर इशारा कर रही थी,**
**मानो मुट्ठी बाधने की शक्ति से रहित थके हुए हाथ हो।**
**हमारे दुख और हमारी पीडा के तोपो की आवाज से भी अधिक घोर**
**शब्दो ने खामोशी को भग कर दिया।**
**ऐ लेनिन ! तू हमारे गाठो पड़े हाथों की आकाक्षा है।**
**हमने समझ लिया है, लेनिन, हमने समझ लिया है कि हमारे**
**भाग्य में है संघर्ष !**
**संघर्ष ! सघर्ष !**
**तूने अन्तिम लड़ाई में हमारा नेतृत्व किया। संघर्ष !**
**तूने हमें श्रमजीवियो की विजय दी।**
**अज्ञान और जुल्म के ऊपर इस विजय को हमसे कोई नहीं**
**छीन सकेगा।**
**कोई नही ! कोई नहीं ! कभी नही ! कभी नहीं !**

आओ, इस संघर्ष में हर जवान और वीर बन जाओ,
क्योंकि हमारी विजय का नाम अक्तूबर है।
अक्तूबर ! अक्तूबर !
अक्तूबर सूर्य का संदेशवाहक है।
अक्तूबर विद्रोही सदियो का संकल्प है।
अक्तूबर ! यह श्रम है, यह खुशी है, यह गीत है।
अक्तूबर ! यह खेतों और यंत्रो के लिए शुभ शकुन है !
यह है नई सन्तति और लेनिन के झंडे पर लिखा हुआ नाम।

: ४० :

# आयरलैण्ड की लड़ाई और डि वेलेरा

आयरलैण्ड के बारे मे होमरूल बिल को ब्रिटिश पार्लमेंट ने महायुद्ध शुरू होने के ठीक पहले पास किया था। अल्स्टर के प्रोटेस्टैण्ट नेताओ ने तथा इग्लैड के अनुदार-दल ने इसका विरोध किया था और इसके विरुद्ध बाकायदा बगावत का सगठन किया गया था। इसपर, जरूरत पडे तो अल्स्टर के विरुद्ध लड़ने को, दक्षिणी आयरवासियो ने भी अपने 'राष्ट्रीय स्वय-सेवकों' का सगठन किया था। ऐसा मालूम हो रहा था कि आयरलैण्ड मे गृह-युद्ध टल नही सकता। ठीक इसी समय महायुद्ध शुरू हो गया और लोगों का सारा ध्यान बेल्जियम और उत्तरी फ्रान्स के रण-क्षेत्रो की तरफ हो गया। पार्लमेंट मे आयरी नेताओ ने युद्ध मे सहायता देने की अपनी तैयारी प्रकट की, किन्तु देश इस ओर से उदासीन था और वह सहायता देने को जरा भी उत्सुक नही था। इधर अल्स्टर के 'बागियो' को ब्रिटिश सरकार मे ऊचे-ऊचे ओहदे दे दिये गए, जिससे आयरनिवासी और भी अधिक नाराज हो गये।

आयरलैण्ड मे नाराजी बढने लगी और यह भावना जोर पकडने लगी कि इग्लैड के युद्ध मे यहा के लोगो को बलिदान का बकरा न बनाया जाय। जब यह प्रस्ताव किया गया कि इग्लैड की तरह आयरलैड मे भी लामबन्दी जारी की जाय और स्वस्थ शरीरवाले तमाम नौजवानो को सेना मे जबरन

पडती थी—"अगर मैं तुम्हे सताऊ तो मैं स्वर्ग से, जीवन से और सन्तान से वचित रहू ।" इस पुस्तक मे राजा की दिनचर्या दी हुई है । उसके मुताबिक राजा को जरूरी काम के लिए हमेशा तैयार रहना चाहिए, क्योकि जनता का काम न तो रुक सकता है, न राजा की सुविधा का इन्तज़ार कर सकता है । "अगर राजा चुस्त होगा तो उसकी प्रजा भी उतनी ही चुस्त होगी ।" "अपनी प्रजा की खुशी मे उसकी खुशी है, प्रजा के कल्याण मे ही उसका कल्याण है, जो बात उसे अच्छी लगे, उसीको वह अच्छा न समझे, बल्कि प्रजा को जो अच्छी लगे, उसीको वह भी अच्छा समझे ।" यह एक ध्यान देने लायक बात है कि प्राचीन भारत मे राज्याधिकार का मतलब जनता की सेवा था। राजाओ का न तो कोई ईश्वरीय अधिकार माना जाता था और न उनके पास कोई निरकुश सत्ता थी। अगर कोई राजा अत्याचार करता था तो जनता का हक था कि उसे हटा दे और उसकी जगह दूसरा राजा मुर्क़रिर कर दे । उन दिनो यही सिद्धान्त और आदर्श था । फिर भी उस समय बहुत-से राजा ऐसे हुए, जो इस आदर्श से नीचे गिरे और जिन्होने अपनी बेवकूफी से अपने देश और प्रजा को मुसीबतो मे फसाया था।

'अर्थशास्त्र' मे इस पुराने सिद्धान्त पर भी जोर दिया गया है कि 'आर्य कभी भी गुलाम न बनाया जा सकेगा ।" इससे जाहिर होता है कि उस जमाने मे किसी-न-किसी तरह के गुलाम होते थे, जो या तो देश के बाहर से लाये जाते होगे, या देश के रहनेवाले होगे । लेकिन जहातक आर्यो का सम्बन्ध था, इस बात पर पूरा ध्यान रखा जाता था कि वे किसी भी हालत मे गुलाम न बनाये जाय ।

मौर्य-साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र थी । यह बडा शानदार शहर था और गगा के किनारे-किनारे नौ मील तक फैला हुआ था । इसकी चहारदीवारी मे चौसठ मुख्य फाटक थे और सैकडो छोटे दरवाजे थे । मकान ज्यादातर लकडी के बने हुए थे और चूकि आग लगने का डर रहता था, इसलिए आग बुझाने का बहुत अच्छा इन्तजाम था । खास-खास सडको पर पानी से भरे हजारो घडे हमेशा रखे रहते थे । हरएक गृहस्थ को भी अपने-अपने घर में पानी से भरे घडे, सीढी, काटा और दूसरी जरूरी चीजें

महायुद्ध समाप्त होने के बाद लंदन की पार्लमिंट के लिए सारे ब्रिटिश द्वीप-समूह मे चुनाव हुए। आयरलैण्ड मे, शिन फेन दल ने, अंग्रेजो के साथ कुछ सहयोग का समर्थन करनेवाले पुराने राष्ट्रवादियो को हराकर, पार्लमिंट के बहुत अधिक स्थानो पर कब्जा कर लिया। परन्तु शिन फेन दल के लोगो ने चुनाव इसलिए नही जीता था कि ब्रिटिश पार्लमिंट के अधिवेशनो मे भाग ले। उनकी नीति बिल्कुल भिन्न थी। वे तो असहयोग और बहिष्कार मे विश्वास रखते थे। इसलिए ये निर्वाचित शिन फेन लोग लदन की पार्लमिंट मे नही गये, और उन्होने सन १९१९ मे डबलिन मे अपना खुद का गणतत्री विधानमंडल बना डाला। उन्होंने आयरी गणराज्य की घोषणा कर दी और अपने विधानमडल का नाम 'डॉइल आरन' रखा। वे लोग यह मानकर चले थे कि यह अल्स्टर समेत समूचे आयरलैण्ड के लिए है, पर अल्स्टरवालो का इससे अलग रहना स्वाभाविक ही था। कैथलिक आयरलैण्ड से उन्हे कोई प्रेम नही था। डॉइल आरन ने डि वेलेरा को अपना अध्यक्ष और ग्रिफिथ को उपाध्यक्ष चुना। उस समय सयोग से नवजात गणराज्य के ये दोनो सरदार ब्रिटिश जेलो मे थे।

फिर एक बहुत ही निराला सघर्ष शुरू हुआ। यह लडाई अपूर्व थी और आयरलैण्ड तथा इंग्लैंड के बीच पिछली अनेक लडाइयो से बिल्कुल भिन्न थी। शिन फेन का सघर्ष एक प्रकार का असहयोग था, जिसमे हिंसा का कुछ पुट था। उन्होंने ब्रिटिश सस्थाओ के बहिष्कार का प्रचार किया और जहा सम्भव हुआ, वहा अपनी सस्थाए स्थापित कर दीं, जैसे मामूली अदालतो के स्थान पर पचायती अदालते। देहात में पुलिस की चौकियो के विरुद्ध छापामार युद्ध का अवलम्बन किया गया। जेलो मे भूख-हडताले करके शिन फेन कैदियो ने ब्रिटिश सरकार को बहुत परेशान किया। सबसे मशहूर भूख-हड़ताल, जिसने आयरलैण्ड को थर्रा दिया, कॉर्क नगर के लॉर्ड मेयर टैरेन्स मैकस्विनी की हुई। जब उसे जेल मे डाला गया तो उसने विश्वास के साथ कहा कि वह जेल से जरूर छूटेगा, जिन्दा नही छूटा तो मरकर छूटेगा, और उसने अनशन कर दिया। पचहत्तर दिन के अनशन के बाद उसका मृतक शरीर जेल से बाहर निकाला गया।

माइकल कॉलिन्स शिन फेन बगावत के बहुत प्रमुख सगठनकर्ताओ

भरती किया जाय तो सारे देश में विरोध की क्रोधाग्नि भडक उठी। जरूरत पडने पर आयरलैण्ड वलपूर्वक भी इसे रोकने के लिए तैयार हो गया।

सन १९१६ के ईस्टर सप्ताह मे डबलिन में उपद्रव हुआ और आयरी गणराज्य की घोषणा की गई। कुछ दिन की लडाई के वाद ब्रिटिश सरकार ने इसे कुचल दिया और बाद मे इस अल्पकालिक वगावत मे भाग लेनेवाले आयरलैण्ड के कुछ एक-से-एक वीर और होनहार नवयुवको को गोलियो से उडा दिया गया। यह उपद्रव, जो 'ईस्टर उपद्रव' के नाम से मशहूर है, ब्रिटिश सत्ता को चुनौती देनेवाला कोई गभीर प्रयत्न नही गिना जा सकता। यह तो दुनिया को केवल यह जतलाने का एक वीरतापूर्ण सकेत था कि आयरलैण्ड अव भी गणराज्य का स्वप्न देखता है और इच्छा से ब्रिटिश प्रभुत्व स्वीकार करने को कभी तैयार नही है। दुनिया को यह सकेत देने के लिए इस उपद्रव का आयोजन करनेवाले नवयुवको ने जान-बूझकर अपने प्राणो की आहुति चढा दी। वे अच्छी तरह जानते थे कि इस वार असफल होगे, पर उन्हे आशा थी कि उनकी कुरवानी वाद मे फल देगी और आयरलैण्ड को आजादी के नजदीक ले जायगी।

इसी उपद्रव के दिनो के आस-पास जर्मनी से आयरलैण्ड को हथियार लाने का प्रयत्न करनेवाले एक आयरवासी को अग्रेजो ने गिरफ्तार कर लिया। यह व्यक्ति सर रोजर केसमेंट था, जो वहुत वर्षो तक इग्लैड के व्यापारिक राजदूत-विभाग में रह चुका था। केसमेंट पर लदन मे मुकदमा चलाया चलाया गया और उसे मृत्यु-दड दिया गया। अदालत मे अपराधी के कटघरे में खडे होकर उसने जो वयान पढा था, वह विशेष रूप से मर्मस्पर्शी और प्रभावशाली था और उसमे आयरी आत्मा के उत्कृष्ट देश-प्रेम को खोल-कर रख दिया गया था।

उपद्रव तो असफल रहा, पर उसकी असफलता मे ही उसकी शानदार विजय थी। इसके वाद ब्रिटिश सरकार ने जो दमन किया, इनका आयर-वासी जनता पर गहरा प्रभाव पडा। ऊपर-ऊपर तो आयरलैण्ड शान्त नजर आता था, लेकिन नीचे क्रोधाग्नि दहक रही थी और शीघ्र ही यह 'शिन फेन' के रूप मे प्रकट हो गई। शिन फेन की विचारधारा वडी तेजी से फैलने लगी।

विशाल साधनो द्वारा तथा सारे आयरलैण्ड को वीरान बनाकर इग्लैड अन्त मे शिन फेनो को कुचल ही डालता, परन्तु आयरलैंण्ड मे इस नीति के कारण वह अमरीका तथा अन्य देशो मे बहुत बदनाम होता जा रहा था। सघर्ष जारी रखने के लिए अमरीका मे रहनेवाले तथा ब्रिटिश उपनिवेशो तक मे रहनेवाले आयरी लोगो ने आयरलैण्ड को खूब धन भेजा। परन्तु शिन फेन लोग भी थक चुके थे, क्योकि उनपर बडा भारी बोझ पडा था।

अग्रेज तथा आयरी प्रतिनिधि लदन मे मिले और दो महीने की चर्चा तथा तर्क-वितर्क के बाद दिसम्बर, १९२१ मे एक अस्थायी समझौते पर दोनो के हस्ताक्षर हो गये। इसमें आयरी जनता के गणराज्य को तो मान्यता नही दी गई, परन्तु दो-एक मामलो को छोडकर इसमे आयरलैण्ड को उससे कही अधिक आजादी मिल गई, जितनी किसी उपनिवेश को अभीतक प्राप्त थी। इतने पर भी आयरी प्रतिनिधि इसे स्वीकार करने को राजी नही थे, और उन्होने तभी अपनी स्वीकृति दी, जब इग्लैड ने तात्कालिक और भयकर युद्ध की धमकी की तलवार उनके सर पर चमकाई।

इस सन्धि के ऊपर आयरलैण्ड मे जबरदस्त खीच-तान हुई—कुछ लोग इसके समर्थक थे, अन्य लोग घोर विरोधी थे। इस सवाल पर शिन फेन दल के दो टुकडे हो गये। अन्त मे जाकर डॉइल आरन ने इस सन्धि को स्वीकार कर लिया, और 'आयरिश आजाद राज्य' की स्थापना हुई, जो आयरलैण्ड मे सरकारी तौर पर 'साओर-स्टाथ आरन' कहलाता है। परन्तु इसके फलस्वरूप शिन फेन दल के पुराने साथियो के बीच गृह-यद्ध छिड गया। डॉइल आरन का अध्यक्ष डि वेलेरा इग्लैड के साथ सन्धि के विरुद्ध था तथा अन्य बहुत-से लोग भी विरुद्ध थे, उधर माइकल कॉलिन्स तथा दूसरे लोग पक्ष मे थे। देश मे कई महीनो तक गृह-युद्ध जोरो के साथ चलता रहा और विपक्षियो को दबाने के लिए सन्धि तथा आजाद राज्य के समर्थको को ब्रिटिश फौजो ने सहायता दी। गणराज्यवादियो ने माइकल कॉलिन्स को गोली से मार दिया और इसी प्रकार गणतत्री नेताओ को आजाद राज्य के हामियो ने गोलियो से मार दिया। सारी जेले गणतत्रियो से भर गई। यह सारा गृह-युद्ध और आपसी विद्वेष आयरलैण्ड के वीरतापूर्ण स्वातन्त्र्य-सग्राम का बहुत ही दुखान्त परिणाम था।

मे गिना जाता है। शिन फेन की चतुर जुगतो ने आयरलैण्ड में ब्रिटिश सरकार को वहुत-कुछ अशक्त वना दिया और देहात मे तो उसकी हस्ती ही मिटा दी। धीरे-धीरे दोनो ओर हिसा का ज़ोर वढने लगा और कई वार अदले के वदले लिये गए। आयरलैण्ड मे लडने के लिए विशेष ब्रिटिश फौजी दल भरती किया गया। अपनी वर्दियो के रग के कारण यह दल 'काला और भूरा' के नाम से मशहूर हो गया। इस काले और भूरे दल ने निर्मम हत्याओ का ताण्डव नृत्य शुरू कर दिया। ये लोग शिन फेनो को आतकित करके सिर झुकाने को मजवूर करने के इरादे से सोते हुए लोगो को गोलियो से मार देते थे। पर शिन फेनो ने सिर नही झुकाया और अपना छापामार युद्ध जारी रखा। इसपर काले और भूरे दल ने भीषण प्रतिशोध का सहारा लिया और समूचे गाव-के-गाव तथा शहरो के वडे भाग जलाकर राख कर डाले। आयरलैण्ड लडाई का विशाल मैदान वन गया, जिसमें दोनो पक्ष खून-खराबी और वरवादी मे एक-दूसरे से होड लगाने लगे। एक पक्ष की ओर तो साम्राज्य का संगठित वल था, दूसरे की ओर मुट्ठीभर लोगो का लौह निश्चय था। सन १९१९ अक्तूबर से, १९२१ तक, दो वर्ष यह आग्ल-आयरी युद्ध चला।

इसी दरमियान, १९२० में, ब्रिटिश पार्लमेंट ने फुर्ती से नया होमरूल विल पास कर दिया। युद्ध से पूर्व पास किया गया पुराना सविधान, जिसके कारण अल्स्टर मे विद्रोह की नौवत पहुच गई थी, चुपचाप मन्सूख कर दिया गया। नये बिल के अनुसार आयरलैण्ड के दो टुकडे कर दिये गए, एक तो अल्स्टर अथवा उत्तरी आयरलैण्ड और दूसरा देश का वाकी भाग, और दोनो के लिए अलग-अलग पार्लमेंटे रखी गई। आयरलैण्ड वैसे ही छोटा-सा देश है, इसलिए विभाजन होने पर ये दोनो भाग एक छोटे-से टापू के नन्हे-नन्हें क्षेत्र हो गये। उत्तरी भाग के लिए अल्स्टर मे नई पार्लमेंट वना दी गई, पर दक्षिण मे, यानी आयरलैण्ड के वाकी भाग मे, होमरूल कानून पर किसीने ध्यान ही नही दिया। वे सव तो शिन फेन विद्रोह में सलंग्न थे।

अक्तूवर, १९२१ में ब्रिटिश प्रधान मत्री लॉयड जार्ज ने शिन फेनो से विराम-सन्धि की अपील की, ताकि समझौते की सम्भावना पर चर्चा की जा सके और उसकी वात मान ली गई। इसमे सन्देह नही कि अपने

प्रतिनिधि थे, और इन दोनो वर्गो के हित अग्रेजी व्यापार मे थे और अग्रेजी पजी का हित इनमे था ।

कुछ समय बाद डि वेलेरा ने अपने दाव-पेंच बदलने का निश्चय किया। वह तथा उसका दल डॉइल आरन मे गये और उन्होने वफादारी की शपथ भी ले ली, पर साथ ही यह जाहिर कर दिया कि यह शपथ उन्होने सिर्फ रस्म पूरी करने के लिए ली है, और अपना बहुमत होते ही वे उसे हटा देगे। सन १९३२ के शुरू मे होनेवाले अगले चुनावो मे डि वेलेरा को आज़ाद राज्य की पार्लमेण्ट मे यह बहुमत प्राप्त भी हो गया और उसने तुरन्त अपने कार्यक्रम पर अमल करना शुरू कर दिया । गणराज्य के लिए लड़ाई तो अब भी चल रही थी, पर लडाई का ढग बदल गया था। डि वेलेरा ने वफादारी की शपथ को मिटा देने का इरादा जाहिर किया और ब्रिटिश सरकार को यह भी सूचित कर दिया कि आगे से वह जमीन की वार्षिक किस्ते नहीं देगा। जब आयरलैण्ड की जमीने बडे-बडे जमीदारो से ले ली गई थीं, उन्हे इनका भरपूर मुआवजा दिया गया था और इसका रुपया हर साल उन किसानो से वसूल किया जाता था, जिन्हे ये जमीने दी गई थी। यह सिलसिला अभीतक जारी था। डि वेलेरा ने कह दिया कि आगे से वह पाई भी न देगा ।

इसपर इग्लैण्ड मे फौरन ही बावेला मच गया और ब्रिटिश सरकार से झगड़ा ठन गया। अव्वल तो ब्रिटिश सरकार ने यह आपत्ति की कि डि वेलेरा द्वारा वफादारी की शपथ का उठाया जाना सन १९२१ ई० की आयरी सन्धि का भग है। डि वेलेरा ने कहा कि उपनिवेशो के सम्बन्ध मे की गई घोषणा के अनुसार अगर आयरलैण्ड और इग्लैण्ड समकक्ष राष्ट्र है और अगर हरएक को अपना सविधान बदलने की आजादी है तो यह स्पष्ट है कि आयरलैण्ड को सविधान मे से वफादारी की शपथ को बदलने या निकाल देने का अधिकार है। इसलिए अब सन १९२१की सन्धि का प्रश्न ही नही उठता।

दूसरे, वार्षिक किस्तो के बन्द किये जाने पर तो ब्रिटिश सरकार ने और भी जोर-शोर से आपत्ति की और कहा कि यह अहदनामे का और कर्ज की जिम्मेदारी का बहुत बेहूदा प्रतिज्ञा-भग है। डि वेलेरा ने इस बात को नही माना। जब वार्षिक किस्ते चुकाने का समय आया और वे

गृह-युद्ध धीरे-धीरे ठडा पड गया, पर गणतत्री फिर भी आज़ाद राज्य को स्वीकार करने के लिए तैयार नही हुए। यहातक कि वे गणतत्री भी, जो दोइल (आजाद राज्य की पार्लामेंट) मे चुने गये थे, उसके अधिवेशनो मे उपस्थित होने से मुकर गये, क्योंकि वफादारी की जिस शपथ मे बादशाह का नाम आता था, उसे ग्रहण करने मे उन्हें आपत्ति थी। इसलिए डि वैलेरा तथा उसका दल दॉइल से दूर रहे और दूसरे आजाद राज्य दल ने, जिसका नेता आज़ाद राज्य का अध्यक्ष कॉस्ग्रेव था, उनको अनेक प्रकार से कुचलने का प्रयत्न किया।

आयरी आजाद राज्य के निर्माण से इंग्लैंड की साम्राज्य-सबधी नीति मे दूर तक असर डालनेवाले परिणाम पैदा हो गये। आयरी सन्धि के द्वारा आयरलण्ड को उससे कही अधिक परिमाण मे स्वाधीनता मिल गई थी, जितनी उस समय कानूनन अन्य उपनिवेशो को प्राप्त थी। ज्योही आयरलैण्ड को यह मिली, अन्य उपनिवेशो ने भी उसे आपसे-आप प्राप्त कर लिया, और औपनिवेशिक दरजे की कल्पना मे परिवर्तन पैदा हो गया। इग्लैड तथा उपनिवेशो के जो कई साम्राज्य-सम्मेलन हुए, उनके फलस्वरूप उपनिवेशों की अधिकाधिक स्वाधीनता की दिशा मे और भी परिवर्तन हुए। इस प्रकार उपनिवेशो की स्थिति बदलती और सुधरती चली गई तथा वे ब्रिटिश राष्ट्र-मडल मे इग्लैड के समकक्ष राष्ट्र माने जाने लगे।

पर यह समानता जितनी कल्पना मे है, उतनी व्यवहार मे नही। आर्थिक दृष्टि से उपनिवेश इग्लैड तथा ब्रिटिश पूजी के साथ बधे हुए है और उनपर आर्थिक दबाव डालने के बहुत-से रास्ते है। साथ-ही-साथ, ज्यो-ज्यों उपनिवेशो का विकास होता जाता है, उनके आर्थिक स्वार्थ इग्लैड के आर्थिक स्वार्थो से टकराने के कारण बनने लगते है। इस प्रकार साम्राज्य धीरे-धीरे कमजोर पडता जाता है।

आयरी सधि का अर्थ था ब्रिटिश पूजी द्वारा कुछ हद तक आयरलैंड के शोषण का जारी रहना, और गणराज्य के आन्दोलन के पीछे असली झगडा यही था। डि वेलेरा तथा गणतत्री लोग ज्यादा गरीब किसानो के, निम्न मध्य-वर्गो के, और गरीब दिमागी लोगो के, प्रतीक थे। कास्ग्रेव तथा आज़ाद राज्यवाले सम्पन्न मध्यम-वर्ग के तथा सम्पन्न किसानो के

बीच यह आर्थिक युद्ध दोनो देशो के एक आपसी राजीनामे के द्वारा खत्म कर दिया गया। यह राजीनामा, जिससे सालाना किस्तो की समस्या का और रुपये-पैसे के अन्य देने-पावने का निपटारा हो गया, आयरी आजाद राज्य के लिए बहुत फायदेमन्द रहा। डि वेलेरा ने ब्रिटिश सरकार और ताज से अनेक सम्बन्ध विच्छेद कर लिये है। आयरलैण्ड का नाम अब 'आयर' रख दिया गया है। आयर के सामने सबसे ज्यादा जरूरी प्रश्न देश की एकता है, जिसमे अल्स्टर भी शामिल हो। पर अल्स्टर अभी राजी नही है।

: ४१ :

## कमालपाशा

सन १९१८ के अन्त मे तथा १९१९ के शुरू मे तुर्क लोग बिल्कुल बेदम हो गये थे और उनके हौसले बिल्कुल पस्त हो चुके थे। उन्हे बहुत भीषण मुसीबते सहनी पडी थी। महायुद्ध के पहले बलकान युद्ध हुआ था और उससे भी पहले इटली के साथ युद्ध हुआ था। तुर्को ने हमेशा अद्भुत सहनशक्ति का परिचय दिया है, मगर लगभग आठ साल के लगातार युद्ध ने उनकी कमर तोड दी—ऐसी हालत मे किसी भी कौम की कमर टूट जाती। वे सारी आशाए छोड बैठे और अपने-आपको बदनसीबी के हवाले करके मित्र-राष्ट्रो के फैसले का इन्तजार करने लगे।

दो वर्ष पूर्व, युद्ध के दौरान मे, मित्र-राष्ट्रो ने इटली के साथ एक गुप्त समझौता कर लिया था, जिसमे उसे स्मर्ना तथा एशिया कोचक का पश्चिमी भाग देने का वादा था। इससे पहले कागजी तौर पर कुस्तुन्तुनिया रूस को भेट कर दिया गया था और अरबी देशो का मित्र-राष्ट्रो ने आपस मे बटवारा करना तय कर लिया था। एशिया कोचक इटली को दिये जाने के बारे मे इस अन्तिम गुप्त इकरारनामे पर रूस की रजामन्दी आवश्यक थी। पर इटली के दुर्भाग्य से, ऐसा होने के पहले ही, बोल्शेविको के हाथ मे सत्ता आ गई। इसलिए यह इकरारनामा मन्जूर नही हो पाया, जिसके कारण इटली मित्र-राष्ट्रो से बहुत कुढा और नाराज हुआ।

नही दी गई तो इग्लैण्ड ने आयरलैण्ड के विरुद्ध एक नया युद्ध छेड दिया। यह आर्थिक युद्ध था। इग्लैण्ड मे आनेवाले आयरी माल पर भारी सरक्षण चुगिया लगा दी गईं, ताकि इग्लैण्ड को अपनी उपज भेजनेवाले आयरी किसान बरबाद हो जाय और आयरी सरकार समझौता करने पर मजबूर हो जाय। आयरी सरकार ने इसके जवाव मे आयरलैण्ड आनेवाले ब्रिटिश माल पर चुगिया लगा दी। इस आर्थिक युद्ध ने दोनो ओर के किसानो और उद्योगो को भारी क्षति पहुचाई। परन्तु अपमानित राष्ट्रीयता और शान का खयाल दोनो मे से किसी भी पक्ष के झुकने के मार्ग मे वाधक वन गये।

सन १९३३ के प्रारम्भ मे आयरलैंड मे नये चुनाव हुए और इनमे जब डि वेलेरा पहले से भी ज्यादा सफल रहा और उसका पहले से भी ज्यादा वहुमत हो गया तो ब्रिटिश सरकार को बहुत खीज हुई। इसका अर्थ यह था कि आर्थिक शिकजा कसने की ब्रिटिश नीति सफल नही हुई।

बस, आज डि वेलेरा आयरी सरकार का प्रमुख है, वफादारी की शपथ तो कभी की खत्म हो गई, वार्षिक किस्तो का भुगतान सदा के लिए बन्द कर दिया है, गवर्नर जनरल का पुराना पद भी तोड दिया गया है, और इस पद पर, जिसका अब कोई महत्व नही रह गया है, डि वेलेरा ने अपने दल के एक सदस्य को नियुक्त कर दिया है।

पर एक बडी वाधा है। डि वेलेरा तथा उसके दल की सबसे वडी इच्छा यह है कि अल्स्टर समेत एकीकृत आयरलैण्ड की एक केन्द्रीय सरकार हो। आयरलेण्ड इतना छोटा है कि उसके दो टुकडे नही किये जा सकते। जबरदस्ती से यह काम नहीं हो सकता। सन १९१४ मे ब्रिटिश सरकार के ऐसे प्रयत्न के कारण बगावत होते-होते रह गई थी। और आजाद राज्य तो अल्स्टर को मजबूर कर ही नही सकता, न ऐसा करने का उसका स्वप्न मे भी कोई इरादा है। डि वेलेरा को आशा है कि वह अल्स्टर की सद्‌भावना प्राप्त कर लेगा और इस प्रकार दोनो को एक कर देगा। पर इस आशा मे अव्यावहारिक आशावाद ज्यादा है, क्योकि प्रोटैस्टेण्ट अल्स्टर का कैथलिक-आयरलैण्ड के प्रति घोर अविश्वास अभीतक चला आ रहा है।

**टिप्पणी (सन १९३८)** : कुछ वर्ष चलने के वाद दोनो देशो के

रखनी पडती थी, जिससे आग बुझाने के लिए उनका उपयोग हो सके।

कौटिल्य ने शहरो के बारे मे एक ऐसे नियम का जिक्र किया है, जो बहुत दिलचस्प मालूम होगा। अगर कोई आदमी सडक पर कूड़ा फेकता था तो उसपर जर्माना होता था। इसी तरह अगर कोई सडक पर कीचड या पानी इकट्ठा होने देता था तो उसपर भी जुर्माना किया जाता था। अगर इन कायदो पर अमल होता रहा होगा तो पाटलिपुत्र या दूसरे और शहर बहुत सुन्दर तथा साफ-सुथरे रहे होगे।

पाटलिपुत्र मे इन्तजाम करने के लिए एक म्यूनिसिपल कौन्सिल थी। जनता इसका चुनाव करती थी। इसमे तीस मेम्बर होते थे और पाच-पाच मेम्बरो की छ कमेटिया बनाई जाती थी। शहरी उद्योगो और दस्त-कारियो का, यात्रियो और तीर्थ-यात्रियो का, टैक्स के लिए मौतो और पैदायशो का, सामान तैयार करने का और दूसरी बातो का इन्तज़ाम इन्ही कमेटियो के हाथ मे रहता था। पूरी कौन्सिल सफाई, आमद-खर्च, पानी की व्यवस्था, बाग-बगीचे और सार्वजनिक इमारतो का इन्तजाम देखती थी।

न्याय करने के लिए पचायते और अपील सुनने के लिए अदालते थी। अकाल पीडितो की मदद का खास प्रबन्ध होता था। राज्य के सारे भण्डारो का आधा गल्ला अकाल के वक्त के लिए हमेशा जमा करके रखा जाता था।

ऐसा था वह मौर्य-साम्राज्य, जिसे बाईससौ बरस पहले चाणक्य और चन्द्रगुप्त ने सगठित किया था। पाटलिपुत्र की राजधानी से लेकर साम्राज्य के बहुत-से बडे-बडे शहरो और हजारो कस्बो और गावो तक सारे देश मे जीवन की चहल-पहल थी। साम्राज्य के एक हिस्से से दूसरे हिस्से तक बडी-बडी सडके थी। मुख्य राजपथ पाटलिपुत्र से उत्तर-पश्चिमी सीमा तक चला गया था। बहुत-सी नहरे थी और उनकी देखभाल के लिए एक खास महकमा भी था। इसके अलावा एक नौका-विभाग भी था, जो बन्दर-गाहो, घाटो, पुलो और एक जगह से दूसरी जगह तक आने-जानेवाले बहुत-से जहाजो और नौकाओ की देख-रेख किया करता था। जहाज समुद्र-पार चीन और बरमा तक जाते थे।

उस समय यह परिस्थिति थी। मालूम होता था कि सुल्तान से लगाकर नीचे तक सारे तुर्क लोग बीत चुके है। 'यूरोप का रोगी' आखिर दम तोड चुका था, कम-से-कम नजर यही आता था। लेकिन कुछ तुर्क ऐसे भी थे, जो किस्मत या परिस्थिति के आगे सिर झुकाने को तैयार नही थे, भले ही उनका मुकाबला करना चाहे जितना निराशाजनक क्यो न दिखाई देता हो। कुछ समय तक तो वे चुपचाप और गुप्त रूप से अपना काम करते रहे। वे उन्ही शस्त्रागारो से हथियार और युद्ध-सामग्री इकट्ठी करते रहे, जो सचमुच मित्र-राष्ट्रो के कब्जे मे थे, और इन्हे जहाजो मे भरकर काला सागर के मार्ग से अनातोलिया (एशिया कोचक) के भीतरी भाग को रवाना करते रहे। इन गुप्त कार्यकर्त्ताओ मे मुस्तफा कमालपाशा प्रधान था।

अंग्रेज लोग मुस्तफा कमाल को फूटी आख भी नही देख सकते थे। वे उसपर सन्देह करते थे और उसे गिरफ्तार करना चाहते थे। सुल्तान भी, जो पूरी तरह अंग्रेजो के अगूठे के नीचे दबा हुआ था, उसे नही चाहता था। मगर उसने सोचा कि कमाल को भीतर की ओर बहुत दूर भेज देना निरापद चाल होगी, इसलिए कमालपाशा को पूर्वी अनातोलिया की सेना का इन्स्पेक्टर-जनरल नियुक्त कर दिया गया। सच पूछो तो वहा देख-भाल करने के लिए कोई सेना ही नही थी, और असल मे कमालपाशा से यह चाहा गया था कि वह तुर्क सिपाहियो से हथियार रखवाने का काम करे। कमाल के लिए यह बडा ही उपयुक्त अवसर था। उसने तपाक से इसे स्वीकार कर लिया और वह तुरन्त रवाना हो गया। उसका चला जाना अच्छा ही हुआ, क्योकि उसके रवाना होने के कुछ ही घटे बाद सुल्तान की मति पलट गई। कमाल के भय ने यकायक उसे दबा दिया और आधी रात गये उसने अंग्रेजो के पास खबर भेजी कि वे कमाल को रोक ले। पर चिडिया तो उड चुकी थी।

कमालपाशा तथा कुछ गिने-चुने अन्य तुर्क अनातोलिया मे राष्ट्रीय विरोध का सगठन करने लगे। शुरू-शुरू मे वे चपचाप और चौकस होकर चले और वहा पडे हुए सैनिक अफसरो को अपनी ओर मिलाने का प्रयत्न करने लगे। जाहिरा तौर पर तो वे सुल्तान के कारकुनो की तरह काम करते

थे, पर कुस्तुन्तुनिया से आनेवाले आदेशो पर वे कोई ध्यान नही देते थे। घटनाचक्र उनकी सहायता कर रहा था। काकेशिया मे अग्रेजो ने आर्मीनिया का गणराज्य बनाया था और तुर्की के पूर्वी प्रान्त उसमे मिला देने का वादा किया था। ( आजकल आर्मीनिया का गणराज्य सोवियत सघ का भाग है )। आर्मीनियाइयो और तुर्को मे कट्टर शत्रुता थी और बीते वर्षो में कभी एक ने और कभी दूसरे ने अनेक हत्याकाड किये थे। जबतक तुर्कों का प्रभुत्व था, तबतक तो इस खूनी खेल मे उनकी ही जीत होती रही, खासकर अब्दुल हमीद के राज्य मे। इसलिए अब तुर्को को आर्मीनियाइयों के अधीन रखे जाने का अर्थ था उनका सर्वनाश। इस तरह मरने से उन्होन लडना अच्छा समझा। इसलिए अनातोलिया के पूर्वी प्रान्तो के तुर्क कमाल-पाशा की अपीलो और जोश दिलानेवाली बातो के लिए तयार थे।

इसी बीच एक दूसरी तथा बहुत महत्वपूर्ण घटना ने तुर्को को जगा दिया। सन १९१९ के शुरु मे इटालवी लोगो ने एशिया कोचक मे अपने सैनिक उतारकर फ्रान्स तथा इग्लैण्ड के साथ किये गए उस गुप्त समझौते को पूरा करना चाहा, जो अमल मे नही आ पाया था। इग्लैण्ड और फ्रान्स ने इसे बिल्कुल पसद नही किया। उस समय वे इटालवी लोगो को बढावा नही देना चाहते थे। जब उन्हे और कुछ न सूझा तो वे इसपर राजी हो गये कि स्मर्ना पर यूनानी सैनिक कब्जा कर ले, ताकि इटाल्वी लोगो की पेशबन्दी हो जाय।

इस काम के लिए यूनान को क्यो पसन्द किया गया ? फ्रान्सीसी तथा अग्रेज सैनिक युद्ध-क्लान्त थे और बगावत पर उतारू थे। वे सैनिक सेवा से छुटकारा पाना चाहते थे और जितनी जल्दी हो सके, घर लौट जाना चाहते थे। इधर यूनानी लोग सुप्राप्य थे और यूनानी सरकार एशिया कोचक तथा कुस्तुन्तुनिया दोनो को अपने राज्य मे मिलाने पर और इस प्रकार पुराने बाइजेण्टाइन साम्राज्य को पुनर्जीवित करने का स्वप्न देख रही थी। दो बडे योग्य यूनानी लायड जार्ज के जो उस समय इग्लैण्ड का प्रधान मन्त्री था और मित्र-राष्ट्रो की मजलिस में जिसका बहुत जोर था, मित्र थे। इनमें से एक तो यूनान का प्रधान मंत्री वेनिजेलोस था। दूसरा सर बेसील जहराफ के नाम से प्रसिद्ध एक बडा रहस्यमय व्यक्ति था, हालांकि उसका मूल नाम

बेसीलिओस जकरियास था। सन १८७७ में ही, जबकि यह नौजवान था, यह हथियार बनानेवाली एक अंग्रेजी कम्पनी का बलकान राज्यो में एजेण्ट बन गया था। जब महायुद्ध खत्म हुआ, यह सारे यूरोप मे, और शायद सारे ससार मे, सबसे धनी व्यक्ति था, और बडे-बडे राजनीतिज्ञ तथा सरकारे इसका आदर करने मे गौरव अनुभव करते थे। इसे ऊची-ऊची अंग्रेजी तथा फ्रान्सीसी उपाधिया दी गई, यह अनेक अखबारो का स्वामी था, और मालूम होता था कि यह परदे के पीछे से सरकारो पर खूब प्रभाव डालता था। अनेक लोगो का विश्वास है कि शुरू से ही वह ब्रिटिश खुफिया विभाग का आदमी था। इससे उसे धधे मे और राजनीति मे बहुत मदद मिली और बार-बार होने वाले युद्धो मे उसने करोडो का मुनाफा बटोरा।

इस कल्पनातीत धनी रहस्यमय व्यक्ति ने और वेनिजेलोस ने लायड जार्ज को इस बात पर राजी करा लिया कि यूनानी सैनिक एशिया कोचक मे भेज दिये जाय। जहराफ इस कार्रवाई का पूरा खर्चा उठाने को तैयार हो गया।

यूनानी सैनिक अंग्रेजी जहाज़ो में समुद्र पार करके एशिया कोचक पहुचे और मई, १९१९ मे अंग्रेजी, फ्रान्सीसी और अमरीकी जगी जहाजो की हिफाजत मे स्मर्ना पर उतरे। इन सैनिको ने, जो तुर्की को मित्र-राष्ट्रो की 'भेंट' थे, तुरन्त ही जबरदस्त पैमाने पर नर-सहार और अत्याचार शुरू कर दिये। वहा आतक का ऐसा राज फैला कि युद्ध-क्लान्त ससार का कुठित अन्त करण भी थर्रा उठा। खुद तुर्की मे तो इसका बडा ही बुरा असर पडा, क्योकि तुर्को को पता लग गया कि मित्र-राष्ट्रो के हाथो उनकी कैसी बुरी हालत होती दिखाई देती है। और फिर अपने पुराने शत्रु तथा प्रजावर्ग यूनानियो द्वारा इस प्रकार मारा-काटा जाना और बर्ताव किया जाना! तुर्को के हृदय मे क्रोधाग्नि धधकने लगी और राष्ट्रीय आन्दोलन ज़ोर पकडने लगा। यहातक कहा जाता है कि यद्यपि कमालपाशा इस आन्दोलन का नेता था, परन्तु स्मर्ना पर यूनानियो का कब्जा इसका जन्म-दाता था। अनेक तुर्की अफसर, जो उस समय तक डावाडोल थे, इस आन्दोलन मे शामिल हो गये।

सितम्बर, १९१९ मे अनातोलिया के सिवास नामक स्थान में चुने हुए प्रतिनिधियो की एक काग्रेस हुई। इसने विरोध के नये आन्दोलन पर स्वीकृति की मोहर लगा दी और कमाल की अध्यक्षता मे एक कार्य-कारिणी कमेटी नियुक्त कर दी गई। मित्र-राष्ट्रो के साथ सुलह की न्यूनतम शर्तों का एक 'राष्ट्रीय करार' भी स्वीकार किया गया। इन शर्तों का आधार पूर्ण स्वाधीनता रखा गया। कुस्तुन्तुनिया मे सुल्तान पर इसका असर पडा और वह कुछ डरा भी। उसने पार्लमेण्ट का नया अधिवेशन बुलाने का वादा किया और चुनावो की आज्ञा दी। इन चुनावो मे सिवास काग्रेस के लोगो को भारी बहुमत प्राप्त हुआ। कमालपाशा को कुस्तुन्तुनिया के लोगो पर विश्वास नही था और उसने नव-निर्वाचित डिपुटियो को वहा न जाने की सलाह दी। पर वे इसपर राजी नही हुए और रऊफबेग के नेतृत्व में वे इस्तम्बूल चले गये (कुस्तुन्तुनिया को अब मै इसी नाम से पुकारूगा)। उनके वहां जाने का एक कारण यह था कि मित्र-राष्ट्रो ने घोषित कर दिया था कि अगर नई पार्लमेण्ट इस्तम्बूल मे सुल्तान की अध्यक्षता मे बैठेगी तो वे उसे मान्यता दे देगे। कमाल भी एक डिपुटी था, पर वह खुद नही गया।

नई पार्लमेण्ट जनवरी, १९२० मे इस्तम्बूल मे बैठी और उसने तुरन्त उस 'राष्ट्रीय करार' को स्वीकार कर लिया, जो सिवास काग्रेस मे रचा गया था। मित्र-राष्ट्रो के इस्तम्बूल-स्थित प्रतिनिधियो को यह बात अच्छी नही लगी और पार्लमेण्ट ने और भी जो बहुत-से काम किये, वे भी उन्हे अच्छे नही लगे। इसलिए छ सप्ताह बाद उन्होने अपनी वही हस्ब-मामूल और जरा भौड़ी चालबाजिया शुरू कर दी, जिनका मिस्र में तथा अन्यत्र कई बार प्रयोग कर चुके थे। अग्रेजी सेनापति अपनी सेना लेकर इस्तम्बूल मे घुस आया, उसने शहर पर कब्जा कर लिया, फौजी कानून की घोषणा कर दी, रऊफबेग सहित चालीस राष्ट्रीय डिपुटियो को गिरफ्तार कर लिया और उन्हे देश-निकाला देकर माल्टा भेज दिया। अग्रेजो के इस 'नरम' उपाय का अभिप्राय दुनिया को केवल यह जाहिर करना था कि मित्र-राष्ट्रो ने 'राष्ट्रीय करार' को नही माना था।

तुर्की मे फिर उत्तेजना फैल गई। अब यह काफी स्पष्ट हो गया कि सुल्तान

अंग्रेजो के हाथो की कठपुतली है। अनेक तुर्की डिपुटी लोग भागकर अगोरा चले गये, वहा पार्लमेण्ट की बैठक हुई और उसने अपना नाम 'तुर्की की महान राष्ट्रीय विधान सभा' रखा। उसने अपनेको देश की सरकार घोपित कर दिया और ऐलान कर दिया कि जिस दिन से अग्रेजो ने इस्तम्बूल पर कब्जा किया, उसी दिन से इस्तम्बूल की सरकार का अस्तित्व जाता रहा।

इसके जवाब मे सुल्तान ने कमालपाशा को तथा अन्य लोगो को बागी घोषित कर दिया और उन्हे मौत की सजा का हुक्म दे दिया। इसके अलावा उसने डोडी पिटवा दी कि अगर कोई व्यक्ति कमालपाशा तथा उसके साथियो की हत्या कर देगा तो वह धार्मिक कर्तव्य का पालन करेगा और उसे लोक तथा परलोक दोनो मे पुण्य प्राप्त होगा। याद रहे कि सुल्तान खलीफा, यानी अमीरउल-मोमिनीन, भी था और हत्या के खुले निमन्त्रण का उसका यह फतवा बडी भयकर चीज था। कमालपाशा न सिर्फ ऐसा बागी था, जिसके पीछे सरकारी भेडिये लगे हुए थे, बल्कि वह दीन से पथभ्रष्ट भी करार दिया गया था, जिसे कोई भी कट्टर या धर्मान्ध व्यक्ति कत्ल कर सकता था। सुल्तान न राष्ट्रवादियो के विरुद्ध जिहाद बोल दिया और उनसे लडने के लिए गैर-सैनिको की 'खलीफा की सेना' तैयार करवाई। मुल्लाओ वगैरह को उपद्रवो का आयोजन करने के लिए भेजा गया। जगह-जगह उपद्रव हुए और कुछ दिन तुर्की मे गृह-युद्ध की आग धधकती रही। नगर-नगर के बीच, भाई-भाई के बीच, यह बडा कटुतापूर्ण सग्राम था और दोनो ओर निर्दय क्रूरता का परिचय दिया गया।

इधर स्मर्ना मे यूनानी लोग ऐसा व्यवहार कर रहे थे, मानो वे ही देश के स्थायी स्वामी हो, और स्वामी भी बिल्कुल वहशियाना तौर के। उन्होने उपजाऊ घाटियो को वीरान कर दिया और हजारो बेघर तुर्कों को वहा से खदेड दिया। तुर्कों की ओर से कोई कारगर मुकाबला न होने के कारण वे आगे बढते चले गये।

राष्ट्रवादियो को एक दुखदायी स्थिति का सामना करना पड रहा था—घर मे उनके विरुद्ध धार्मिक व्यवस्थावाला गृह-युद्ध, उधर विदेशी हमलावरो

की उनपर चढाई, और सुल्तान तथा यूनानी दोनो की पीठ ठोकनेवाली महान मित्र-राष्ट्रीय शक्तिया, जो जर्मनी पर विजय प्राप्त करने के बाद सारी दुनिया पर हावी हो रही थी। लेकिन कमालपाशा ने अपने लोगो को यह नारा दिया कि "जीतो या मर मिटो।" एक अमरीकी ने जब उससे पूछा कि अगर राष्ट्रवादी असफल रहे तो क्या होगा तो उसने जवाब दिया, "जो राष्ट्र जीवन और स्वाधीनता के लिए आखिरी कुरबानिया करता है, वह कभी असफल नही होता। असफलता का अर्थ है कि राष्ट्र मर चुका है।"

मित्र-राष्ट्रो ने कम्बख्त तुर्की के लिए जो सधि-पत्र तैयार किया था, वह अगस्त, १९२० मे प्रकाशित कर दिया गया। यह 'सेवर की सन्धि' कहलाई। इसने तुर्की की आजादी का अन्त कर दिया, स्वाधीन राष्ट्र की हैसियत से तुर्की को मौत की सजा सुना दी गई। इसके अनुसार तुर्की के सिर्फ टुकडे-टुकडे ही नही कर दिये गए, बल्कि खुद इस्तम्बूल तक मे धरना देने और कब्जा बनाये रखनेवाला एक मित्र-राष्ट्रीय कमीशन नियुक्त कर दिया गया। सारे देश मे विषाद छा गया और प्रार्थनाओ तथा हडताल के साथ राष्ट्रीय मातम का दिन मनाया गया। उस दिन अखबारो के पृष्ठों पर चारो ओर काली किनारिया छापी गई। पर इससे क्या होता था, क्योकि सुलतान के प्रतिनिधि सन्धि-पत्र पर हस्ताक्षर कर चुके थे। हा, राष्ट्रवादियो ने उसे घृणा के साथ ठुकरा दिया, और सन्धि-पत्र के प्रकाशन का यह परिणाम हुआ कि उनका बल बढने लगा और अपने देश की मिट्टी बिल्कुल खराब होने से बचाने के लिए दिन-पर-दिन अधिक तुर्क उनके दल मे शामिल होने लगे।

परन्तु बगावत से भरे तुर्की पर इस सन्धि का अमल कौन कराता? मित्र-राष्ट्र खुद यह काम नही करना चाहते थे। उन्होने अपनी सेनाओ को विघटित कर दिया था और घर मे उन्हे सेना से निकले हुए सिपाहियो तथा मजदूरो के बिगडे हुए मिजाज़ का सामना करना पड रहा था। पश्चिमी यूरोप के देशो मे अभीतक वातावरण मे विद्रोह की भावना मौजूद थी। उधर मित्र-राष्ट्रो मे आपस मे ही नाइत्तफाकी पैदा हो रही थी और वे युद्ध की लूट के बटवारे पर लड-झगड रहे थे। पूर्व मे इग्लैण्ड को तथा कुछ हद तक फ्रान्स को एक खतरनाक स्थिति का सामना करना पड़ रहा था।

फ्रान्सीसी 'आदेश' के अधीन सीरिया मे असन्तोष की आग फैल रही थी और वहा गडबड की सम्भावना थी। मिस्र मे खूनी उखाड-पछाड हो ही चुकी थी, जिसे अग्रेजो ने कुचल दिया था। भारत मे १८५७ के विद्रोह के वाद बगावत का पहला महान आन्दोलन तैयार हो रहा था, यद्यपि यह शान्तिपूर्ण था। यह गाधीजी के नेतृत्व मे असहयोग का आन्दोलन था और खिलाफत का सवाल तथा तुर्की के साथ किया गया वर्त्ताव इस आन्दोलन के मुख्य मुद्दो मे था।

इस प्रकार हम देखते है कि मित्र-राष्ट्र इस स्थिति मे नही थे कि खुद अपनी ही सन्धि तुर्की पर लाद सके। न वे तुर्क राष्ट्रवादियो द्वारा इसकी खुल्लमखुल्ला अवहेलना ही सहने को तैयार थे। इसलिए उन्होने अपने दोस्त वैनिजेलोस तथा जहराफ का सहारा ढूढा और ये दोनो यूनान की ओर से इस काम को अजाम देने के लिए पूरी तरह तैयार हो गये। किसीको यह आशा नही थी कि पस्त-हिम्मत तुर्क लोग कुछ ज्यादा परेशान करेगे, और एशिया कोचक की लूट हथियाने लायक थी। इसलिए और भी ज्यादा यूनानी सैनिक भेजे गये, और यूनानी-तुर्की-युद्ध वडे पैमाने पर छिड गया। १९२० के ग्रीष्म तथा शरद भर मे विजय-लक्ष्मी ने यूनानियो का साथ दिया और उन्होने सामना करनेवाले तुर्को को खदेड दिया। कमालपाशा और उसके साथियो के हाथ मे सेना के जो बचे-खुचे टुकडे रह गये थे, उन्हीमें से एक कारगर सेना तैयार करने के लिए उन्होने जी-तोड परिश्रम किया। जिस समय उन्हे सहायता की अत्यन्त आवश्यकता पडी, तभी उन्हे सहायता मिल गई, और ठीक मौके पर मिल गई—यानी सोवियत रूस ने हथियारो तथा धन से उन्हे मदद पहुचाई, क्योकि इग्लैण्ड को दोनो ही अपना एक-समान शत्रु मानते थे।

ज्यो-ज्यो कमाल का बल वढने लगा, मित्र-राष्ट्रो के दिलो मे इस सघर्ष के परिणाम के बारे मे कुछ-कुछ शका होने लगी और उन्होने पहले से अच्छी शर्ते पेश की। पर कमालियो के लिए अब भी वे स्वीकार करने योग्य न थी और उन्होने इन्हे ठुकरा दिया। इसपर मित्र-राष्ट्रो ने यूनानी-तुर्की सघर्ष से अपना पिड छुडाया और अपनी तटस्थता की घोषणा कर दी। यूनानियो को जजाल में फसवाकर उन्होने उन्हे मझधार मे छोड़

दिया। यही नही, फ्रान्स ने और कुछ हद तक इटली ने भी, तुर्कों को दोस्त बनाने के गुप्त प्रयत्न किये, पर अग्रेज अभीतक थोडे-बहुत यूनानियो की ओर थे, लेकिन थे गैर-सरकारी तौर पर।

१९२१ की गरमियो मे यूनानियो ने तुर्की की राजधानी अगोरा पर कब्जा करने का जबरदस्त प्रयास किया। वे नगर के बाद नगर पर अधिकार करते हुए अगोरा के पास तक आ पहुचे, पर अन्त मे सकरिया नदी पर उन्हे रोक दिया गया। इस नदी के पास तीन सप्ताह तक दोनो सेनाए आपस में जूझती रही, सदियो पुराने सारे जातीय विद्वेष को लेकर निरन्तर लडती रही और एक ने दूसरे के साथ जरा भी रहम नही किया। सहनशक्ति की यह भीपण कसौटी वन गई। तुर्क तो बस किसी तरह डटे रहे, पर यूनानियो ने घुटने टेक दिये और वे पीछे हट गये। जैसाकि उसका ढग रहा था, यूनानी सेना हर चीज को जलाती तथा नष्ट करती हुई पीछे लौटी और उसने दोसौ मील के उपजाऊ प्रदेश को वीरान वना दिया।

सकरिया नदी के सग्राम मे तुर्कों की वस वाल-वाल जीत हुई थी। यह अन्तिम विजय किसी तरह भी नही थी, पर फिर भी इसकी गणना आधुनिक इतिहास के निर्णयात्मक सग्रासो मे की जाती है। इसके फलस्वरूप धारा का रुख ही पलट गया। पूर्व तथा पश्चिम के वीच जिन वडी-वडी टक्करो ने पिछले दोसौ से भी अधिक वर्पो मे एशिया कोचक की चप्पा-चप्पा जमीन को मनुष्यो के खून से तर कर दिया है, यह सग्राम उन्हीमें एक और था।

दोनो ओर की सेनाए वेदम हो गई थी और वे फिर शक्ति प्राप्त करने के लिए तथा दुवारा सगठित होने के लिए सुस्ताने लगी थी, पर कमालपाशा का सितारा निस्सन्देह वुलन्दी पर था। फ्रान्सीसी सरकार ने अगोरा से सन्धि कर ली। अगोरा तथा सोवियत के वीच भी सन्धि हो गई। फ्रान्स द्वारा मान्यता दिये जाने से मुस्तफा कमाल को वहुत वड़ा नैतिक तथा भौतिक लाभ हुआ। इससे सीरिया की सरहद के तुर्की सैनिक यूनान के विरुद्ध लड़ने के लिए खाली हो गये। ब्रिटिश सरकार अभीतक कठपुतली सुल्तान को और इस्तम्बूल की निकम्मी सरकार को सहारा दे रही थी। इसलिए इस फ्रान्सीसी सन्धि से उसे धक्का पहुचा।

अगस्त, १९२२ मे, तुर्की सेना ने यकायक, पर पूरी सावधानी से तैयारी के बाद, यूनानियो पर हमला बोल दिया और उन्हे आसानी से समुद्र तक धकेल दिया। आठ दिनो मे यूनानी लोग १६० मील पीछे हटे, लेकिन हटते-हटते भी उन्होने जो भी तुर्की पुरुष, स्त्री या बच्चा रास्ते मे पडा, उसे मारकर खूनी बदला लिया। तुर्को ने भी कम निर्दयता नही दिखाई और वे यूनानियो को कैदी बनाने की झझट मे नही पडे। जो थोडे-से कैदी उन्होने पकडे, उनमे यूनानी सेना का सेनापति तथा अफसर थे। यूनानी सेना का अधिक भाग स्मर्ना से समुद्र के रास्ते निकल भागा, पर खुद स्मर्ना शहर का बडा भाग जला डाला गया।

इस विजय के बाद कमालपाशा ने दम नही लिया और अपनी सेनाओ को लेकर इस्तम्बूल की ओर कूच कर दिया। नगर के पास चनक नामक स्थान पर अग्रेज सैनिको ने उसे रोका और सितम्बर, १९२२ मे कुछ दिनो तुर्की तथा इग्लैण्ड के बीच युद्ध छिड जाने की सम्भावना रही। पर अग्रेजो ने तुर्की की लगभग सभी मागो को स्वीकार कर लिया और दोनो ने युद्ध-विराम सन्धि पर हस्ताक्षर कर दिये, जिसमे अग्रेजो ने यह वादा तक कर लिया कि वे थ्रेस मे तबतक पडी हुई यूनानी फौजो को तुर्की से हटवा देंगे। तुर्की के पीछे सोवियत का भूत हमेशा खडा दिखाई दे रहा था, इसलिए मित्र-राष्ट्र ऐसा युद्ध नही छेडना चाहते थे, जिसमे रूस तुर्की की मदद पर आ जाय।

मुस्तफा कमाल न शानदार विजय प्राप्त की और सन् १९१९ के मट्ठी-भर बागी अब बडी-बडी शक्तियो के प्रतिनिधियो से बराबरी की हैसियत मे बात करने लगे। इस वीर दल को अनेक परिस्थितियो ने सहायता पहुचाई थी—जैसे युद्धोत्तर प्रतिक्रिया, मित्र-राष्ट्रो मे आपसी फूट, भारत तथा मिस्र मे होनेवाली गडबडो मे इग्लैण्ड की व्यस्तता, सोवियत रूस की सहायता, अग्रेजो द्वारा तुर्क का अपमानित किया जाना, इत्यादि। मगर इन सब के अलावा तुर्को की शानदार विजय के कारण थे खद उन्हीके दृढ सकल्प और आज़ाद होने की बलवती इच्छा और तुर्की किसानो तथा सिपाहियो की अद्भुत सैनिक क्षमता।

लोज़ान मे एक शान्ति-सम्मेलन हुआ और यह कई महीनो तक खिचता

रहा। इग्लैण्ड के अहकारी और रोबदार प्रतिनिधि लार्ड कर्जन तथा कुछ-कुछ बहरे और कूढ-मग्ज इस्मत पाशा के बीच अजीब कुश्ती हुई। इस्मत पाशा चुपचाप मुस्कराता रहता था और जिस बात को वह नही सुनना चाहता था उसे अनसुनी कर देता था, जिससे कर्जन को तीव्र झुझलाहट होती थी। भारत के वाइसरायी ढगो के आदी और वैसे भी बहुत घमडी कर्जन ने गर्जन-तर्जन के तरीको का प्रयोग किया, पर बहरे और मुस्कराते इस्मत पर जू तक नही रेंगी। आखिर तग आकर कर्जन लौट गया और सम्मेलन भग हो गया। सम्मेलन की बैठक बाद मे फिर हुई, पर इस बार कर्जन के बजाय दूसरा ब्रिटिश प्रतिनिधि आया। 'राष्ट्रीय करार' मे लिखित तमाम तुर्की मागे, सिवा एक माग के, मान ली गई और जुलाई, १९२३ मे लोजान के सन्धि-पत्र पर हस्ताक्षर हो गये। इस बार भी सोवियत रूस के सहारे ने और मित्र-राष्ट्रो के आपसी वैमनस्य ने तुर्की की मदद की।

गाजी, यानी विजयी, कमालपाशा को वे सब चीजे मिल गईं, जिन्हे प्राप्त करना उसका उद्देश्य था। लेकिन शुरू से ही उसने यह बुद्धिमानी की थी कि अपनी मागे कम-से-कम रखी थी और विजय की घडी मे भी वह उन्ही-पर जमा रहा। अरब देश, इराक, फिलस्तीन, सीरिया, वगैरह गैर-तुर्क प्रदेशो पर तुर्क प्रभुत्व स्थापित करने का विचार उसने बिल्कुल छोड दिया था। वह तो यही चाहता था कि तुर्क कौम का निवास-स्थान खास तुर्की आजाद हो जाय। वह नही चाहता था कि तुर्क लोग अन्य कौमो के मामलो मे टाग अड़ाये, पर वह तुर्की मे विदेशियो की भी कोई दस्तन्दाजी सहन करने को तैयार नही था। इस प्रकार तुर्की सघन और समान-जातिवाला देश बन गया। कुछ वर्ष बाद, यूनानियो के सुझाव पर, आबादी की अभूतपूर्व अदला-बदली हुई। अनातोलिया मे बाकी बचे हुए यूनानी यूनान भेज दिये गए और उनके बदले मे यूनान मे रहनेवाले तुर्क बुला लिये गए। इस प्रकार लगभग पन्द्रह लाख की अदला-बदली हुई, और इनमे से अधिकाश कुटुम्ब पीढियो से और सदियो से अनातोलिया या यूनान मे रहते आये थे। यह कौमों की अजीब उखाड-पछाड थी और इसने तुर्की के आर्थिक जीवन को बिल्कुल उलट-पलट दिया, क्योकि यूनानी लोगो का वहा के व्यवसाय मे खासतौर पर बड़ा भारी भाग था। लेकिन इससे तुर्की और भी अधिक एकजातीय

देश बन गया और आज शायद इसके जैसा एकजातीय देश यूरोप या एशिया मे दूसरा कोई नही है।

लोजान की सन्धि के द्वारा तुर्की की एक के सिवा सारी मांगें पूरी हो गई। यह अपवाद इराक की सरहद के पास विलायत यानी मोसूल प्रान्त था। चूकि दोनो पक्ष इसके बारे मे सहमत नही हो सके, इसलिए यह मामला राप्ट्र-सघ के सुपुर्द कर दिया गया। कुछ तो तेल के सोतो के कारण, पर ज्यादातर सामरिक दृप्टि से महत्वपूर्ण होने के कारण, मोसूल महत्व का प्रदेश था। मोसूल के पर्वतो पर अधिकार का अर्थ था कुछ हद तक तुर्की, इराक तथा ईरान पर, और रूस मे काकेशिया पर भी, प्रभुत्व करना। इसलिए तुर्की के लिए इसका महत्व स्पप्ट था। इग्लैण्ड के लिए भी यह उतना ही महत्वपूर्ण था, एक तो भारत जानेवाले खुश्की और हवाई रास्तो की रक्षा के लिए, दूसरे सोवियत रूस के विरुद्ध आक्रमण या बचाव की पक्ति के के तौर पर। नकशा देखने से पता लग जायगा कि मोसूल की स्थिति कितनी महत्वपूर्ण है। इस प्रश्न पर राप्ट्र-सघ ने इग्लैण्ड के पक्ष में फैसला दिया। तुर्को ने इसे मानने से इन्कार कर दिया,और युद्ध की चर्चा फिर शुरू हो गई। पर अन्त मे अगोरा की सरकार झुक गई और मोसूल इराक के नये राज्य को दे दिया गया।

मुस्तफा कमाल और उसके साथियो को जो विजय प्राप्त हुई, उसका उन्होने क्या किया? कमालपाशा पुरानी लकीर का फकीर बने रहने का कायल नही था। वह तुर्की को बाहर-भीतर पूरी तरह बदल देना चाहता था। लेकिन विजय के बाद असीम लोकप्रियता प्राप्त कर लेने पर भी उसे बडी सावधानी से आगे बढना जरूरी था, क्योकि किसी कौम को लम्बी परम्परा तथा धर्म की नीव पर खडे हुए उसके प्राचीन रिवाजो से जबरदस्ती हटा देना कोई आसान काम नही होता। वह सुल्तानियत और खिलाफत दोनो का अन्त करना चाहता था, पर उसके अनेक साथी उससे सहमत नही थे और व्यापक तुर्क भावना भी शायद ऐसे परिवर्तन के विरुद्ध थी। कोई नही चाहता था कि कठपुतली सुल्तान वहीदुद्दीन एक दिन भी बना रहे। उससे लोग देशद्रोही के समान घृणा करते थे, जिसने अपने देश को विदेशियों के हाथ बेच देने का प्रयत्न किया था। परन्तु बहुत-से लोग एक तरह की

सवैधानिक सुल्तानियत और खिलाफत चाहते थे, जिसम वास्तविक सत्ता राष्ट्रीय विधान-सभा के हाथो मे हो। पर कमालपाशा अपने उद्देश्य के साथ ऐसा कोई समझौता नही करना चाहता था, इसलिए वह अवसर की प्रतीक्षा करने लगा।

हमेशा की तरह इस बार भी अग्रेजो ने यह अवसर दे दिया। जिस समय लोजान् के शान्ति-सम्मेलन की व्यवस्था की जा रही थी, ब्रिटिश सरकार ने इस्तम्बूल मे सुल्तान के पास उसका निमत्रण भेजा, जिसमे सुल्तान से कहा गया कि शान्ति की शर्तो पर बातचीत करने के लिए प्रतिनिधि भेजे। साथ ही उससे यह भी प्रार्थना की गई थी कि इस निमत्रण की खबर अगोरा पहुचा दे। अगोरा की युद्ध जीतनेवाली राष्ट्रीय सरकार के प्रति इस उपेक्षा-पूर्ण व्यवहार ने, और कठपुतली सुल्तान को फिर आगे ढकेलने के इस इरादी प्रयत्न ने, तुर्की मे सनसनी पैदा कर दी और तुर्को को आग-बबूला कर दिया। उन्हे शका हो गई कि अग्रेज तथा धोखेबाज सुल्तान मिलकर कोई और षड्यत्र रच रहे है। मुस्तफा कमाल ने इस भावना का तुरन्त फायदा उठाया और नवम्बर, १९२२ मे राष्ट्रीय विधान-सभा से सुल्तानियत को मन्सूख करा डाला। पर सिर्फ खिलाफत के रूप मे खिलाफत अब भी बाकी रह गई और यह घोषणा कर दी गई कि उसका उत्तराधिकार उस्मानी खान्दान मे रहेगा। इसके थोडे ही दिन बाद भूतपूर्व सुल्तान वहीदुद्दीन के विरुद्ध घोर देशद्रोह का आरोप लगाया गया। उसने खुली अदालत के सामने जाने की अपेक्षा भाग जाना बेहतर समझा और वह एक अग्रेजी ऐम्बुलेन्स गाडी मे बैठकर चोरी-छिपे भाग गया और इसने उसे एक अग्रेजी जगी जहाज तक पहुचा दिया। राष्ट्रीय विधान-सभा ने उसके चचेरे भाई अब्दुल मजीद अफदी को नया खलीफा चुन लिया, जो अब सिर्फ रस्म के लिए अमीर-उल-मोमिनीन था, राजनैतिक सत्ता उसके हाथ मे कुछ नही थी।

अगले साल, १९२३ मे, तुर्की गणराज्य की बाकायदा घोषणा होगई और उसकी राजधानी अगोरा रखी गई। मुस्तफा कमाल राष्ट्रपति चुना गया और उसने सारी सत्ता अपनी मुट्ठी मे कर ली, जिससे वह अधिनायक बन गया। विधान-सभा उसके आदेशो का पालन करने लगी। अब उसने अनेक पुराने रिवाजो पर हथौड़ा चलाना शुरू किया। धर्म के प्रति उसके

व्यवहार में ज्यादा शिष्टता नही थी । अनेक लोग, खासकर धार्मिक वृत्ति-वाले भोले लोग, उसके तरीको से और अधिनायकत्व से असन्तुष्ट हो उठे, और वे नये खलीफा के चारो ओर जमा हो गये । कमालपाशा को यह बात जरा भी अच्छी नही लगी और वह अगला बडा कदम उठाने के लिए अवसर की प्रतीक्षा करने लगा ।

उसे यह अवसर फिर जल्दी ही मिल गया और मिला भी बडे अजीब ढग से । आगा खा तथा भारत के भूतपूर्व न्यायाधीश अमीर अली ने लन्दन से उसके पास एक सयुक्त पत्र भेजा । उन्होने भारत के करोडो मुसलमानो की वकालत का दावा किया और खलीफा के साथ किये गए दुर्व्यवहार का विरोध किया । उन्होने अनुरोध किया कि खलीफा की प्रतिष्ठा कायम रखी जाय और उसके साथ अच्छा व्यवहार किया जाय । इस पत्र की नकले उन्होने इस्तम्बूल के कुछ अखबारो को भेज दी । हुआ यह कि मूल पत्र के अगोरा पहुचने से पहले ही उसकी नकल इस्तम्बूल मे प्रकाशित हो गई । इस पत्र में भडकानेवाली कोई बात नही थी, पर कमालपाशा ने तुरन्त इसे धर दबाया और जबरदस्त हो-हल्ला मचा दिया । जिस अवसर की वह तलाश मे था, वह उसे मिल गया था और वह इससे पूरा फायदा उठाना चाहता था । बस, यह बात फैला दी गई कि तुर्को मे फूट डालने का यह एक और अग्रेजी षडयत्र है । कहा गया कि आगा खा अग्रेजो का खास एजेण्ट है ।

इस प्रकार कमालपाशा ने इस सयुक्त पत्र और आगा खा को लोगो की निगाह मे गिरा दिया । पत्र-लेखको को यह गमान नही था कि इसके ये परिणाम निकलेगे । पत्र को प्रकाशित करनेवाले बेचारे इस्तम्बूली सम्पादको पर देशद्रोही तथा इग्लैण्ड का एजेण्ट होने का इलजाम लगा दिया गया और उन्हे कठोर दड दिये गए । इस प्रकार भावनाओ को खूब भडकाने के बाद मार्च, १९२४ मे खिलाफत को उन्मलन करने का बिल राष्ट्रीय विधान-सभा मे पेश किया गया और उसी दिन पास कर दिया गया । इस प्रकार आधुनिक रगमच से एक ऐसी सस्था का प्रस्थान हो गया, जिसने इतिहास में महान अभिनय किया था ।

बतलाया जा चुका है कि तुर्की अब पूरा एकजातीय देश हो गया था, जिसमे विदेशी तत्व नही के बराबर थे । पर इराक तथा ईरान की

सीमाओ के आसपास पूर्वी तुर्की मे अब भी एक गैर-तुर्क जाति थी। यह प्राचीन कुर्द जाति थी, जो ईरानी भाषा बोलती थी। ये लोग जिस कुर्दिस्तान के निवासी थे, उसके टुकडे तुर्की, इराक, ईरान तथा मोसूल प्रदेश मे बाट दिये गए थे। कुल तीस लाख कुर्दों मे से आधे के लगभग अब भी खास तुर्की मे बसे हुए थे। १९०८ के नौजवान तुर्क आन्दोलन के बाद यहा आधुनिक राष्ट्रीय आन्दोलन शुरू हो गया था। वर्साई-सम्मेलन मे भी कुर्दो के प्रतिनिधियो ने राष्ट्रीय स्वाधीनता की माग रखी थी।

सन १९२५ मे तुर्की के कुर्द क्षेत्र मे बगावत फूट पडी। यह ठीक वही समय था, जब मोसूल का झगड़ा इग्लैड तथा तुर्की के बीच नाचाकी पैदा कर रहा था। मोसूल खुद एक कुर्द क्षेत्र था, जो तुर्की के उस भाग से मिला हुआ था, जहा बगावत हो रही थी। तुर्को के लिए इस नतीजे पर पहुचना स्वाभाविक था कि इस बगावत के पीछे इग्लैड का हाथ है और ब्रिटिश एजेटो ने अधिक कट्टर कुर्दो को कमालपाशा के सुधारो के विरुद्ध भडका दिया है। यह वतलाना सम्भव नही कि इस बगावत से ब्रिटिश एजेण्टो का कोई ताल्लुक था या नही, हालाकि यह तो जाहिर था कि उस मौके पर तुर्की मे इस कुर्द गडबड पर ब्रिटिश सरकार को खुशी हुई थी। अलबत्ता यह साफ दिखाई देता है कि इस उपद्रव मे धार्मिक कट्टरता का बहुत बडा हाथ था और यह भी उतना ही स्पष्ट है कि कुर्द राष्ट्रीयता का भी इसमे बडा हाथ था। राष्ट्रीयता का भाव शायद सबसे जोरदार था।

कमालपाशा ने तुरन्त यह हल्ला मचा दिया कि तुर्क राष्ट्र खतरे मे है, क्योकि कुर्दो की पीठ पर इग्लैड है। उसने राष्ट्रीय विधान-सभा से एक कानून पास करा लिया कि भाषणो द्वारा या छपे साहित्य के द्वारा जनता की भावनाओ को भड़काने के लिए धर्म का उपयोग घोर देशद्रोह माना जाना चाहिए और उसके लिए कठोर-से-कठोर दड दिये जाने चाहिए। मस्जिदो मे ऐसे धार्मिक मतवादो का पढ़ाया जाना भी रोक दिया गया, जिनसे गणतत्र के प्रति वफादारी की भावनाओ के गुमराह होने की सभावना हो। इसके बाद उसने विना किसी दया-माया के कुर्दो को कुचलना शुरू किया और उनका फैसला करने के लिए हजारो की सख्या मे 'स्वाधीनता की विशेष अदालते' स्थापित कर दी।

अनेक कुर्द नेता फासी पर लटका दिये गए। वे अपने होठो पर कुर्दिस्तान की स्वाधीनता की प्रार्थना के साथ मरे।

मतलव यह कि जो तुर्क कुछ ही दिन पहले अपनी आजादी के लिए लड रहे थे, उन्होने अपनी आजादी चाहनेवाले कुर्दो को कुचल दिया। यह अजीव बात है कि रक्षात्मक राष्ट्रीयता किस प्रकार आक्रमणकारी राष्ट्रीयता वन जाती है और आजादी के लिए लडाई दूसरो पर प्रभुत्व जमाने की लडाई बन जाती है। सन १९२९ मे कुर्दो ने दूसरी बार विद्रोह किया और कम-से-कम उस समय तो इसे भी फिर कुचल दिया गया। लेकिन जो कौम आजादी प्राप्त करने पर तुली हो और उसकी कीमत चुकाने को तैयार हो, उसे हमेशा के लिए कोई किस प्रकार कुचल सकता है !

इसके बाद कमालपाशा ने उन सब लोगो पर गुस्सा उतारना शुरू किया, जिन्होने राष्ट्रीय विधान-सभा मे या बाहर उसकी नीति का विरोध किया था। अधिनायक की सत्ता की भूख हमेशा उसके प्रयोग के साथ बढती है, वह कभी नही बुझती, वह किसी तरह का विरोध सहन नही कर सकती। बस, कमालपाशा ने भी हर तरह के विरोध पर सख्त नाराजी जाहिर की और जब एक धर्मान्ध व्यक्ति ने उसकी हत्या का प्रयत्न किया, तब तो मामला बिल्कुल ही बिगड गया। अब 'स्वाधीनता की अदालतें' गाजी पाशा का विरोध करनेवाले सब लोगो का फैसला करती हुई और उन्हे सख्त सजाए देती हुई सारे तुर्की मे दौरा करने लगी, यहातक कि अगर विधान-सभा के बडे-से-बडे व्यक्तियो और कमाल के पुराने राष्ट्रवादी साथियो ने भी विरोध किया तो उन्हे भी नही बख्शा गया। रऊफ वेग को, जिसे ब्रिटिश सरकार ने माल्टा मे निर्वासित कर दिया था और जो बाद मे तुर्की का प्रधान मत्री हुआ, उसकी अनपस्थिति मे ही सजा दे दी गई। स्वाधीनता के युद्ध मे भाग लेनेवाले अन्य अनेक प्रमुख नेताओ तथा सेनापतियो को अपमानित किया गया और सजाए दी गई और कुछको तो फासी पर लटका दिया गया।

तमाम विरोध का सफाया करके मुस्तफा कमाल अब एकछत्र अधिनायक वन गया। इस्मत पाशा उसका दाहिना हाथ था। उसके दिमाग मे जो विचार भरे हुए थे, उनमे से अव बहुतो को उसने व्यवहार मे

लाना शुरू किया। उसने बहुत छोटी-सी, पर नमूनेदार, चीज से शुरुआत की। उसने 'फैज' टोपी पर हमला किया, जो तुर्क की और कुछ हद तक मुसलमान की प्रतीक बन गई थी। पहले उसने होशियारी के साथ सेना से शुरुआत की। इसके वाद वह खुद हैट पहनकर बाहर निकला, जिससे लोगो को वडा आश्चर्य हुआ और अन्त मे जाकर उसने फैज टोपी पहनना फौजदारी जुर्म ही करार दिया! सिर्फ टोपी को इतना ज्यादा महत्व देना जरा नादानी की बात लगती है। बहुत अधिक महत्व की बात तो यह है कि सिर के अन्दर क्या है, न कि सिर के ऊपर क्या रखा है। पर कभी-कभी छोटी-छोटी चीजे बडी-बडी चीजो की प्रतीक बन जाती है और सीधी-सादी फैज टोपी के द्वारा कमालपाशा ने पुराने रिवाजो और कट्टरवाद पर आक्रमण किया था। इस प्रश्न को लेकर दगे हो गये। इन्हे दवा दिया गया और दगाइयो को कठोर दड दिये गए।

इस पहली वाजी को जीतकर मुस्तफा कमाल ने एक कदम और आगे बढाया। उसने तमाम मठो और धर्म-स्थानो को वन्द कर दिया और तोड़ दिया और उनकी सारी सम्पत्ति जव्त कर ली। जो दरवेश इनमे रहते थे, उनसे कह दिया गया कि अपनी जीविका के लिए मजूरी करे। दरवेशो की खास पोशाक पर भी पावन्दी लगा दी गई।

इससे भी पहले मुस्लिम मकतव तोड दिये गए थे और उनके स्थान पर राज्य के निरपेक्ष स्कूल खोल दिये गए थे। तुर्की मे अनेक विदेशी स्कूल और कालिज थे। इनमे दी जानेवाली धार्मिक शिक्षा भी वन्द करा दी गई और किसीने ऐसा करने से इन्कार किया तो उसे वन्द करा दिया गया।

कानून मे आमूल-चूल परिवर्तन कर दिया गया। अभीतक अनेक वातो मे कानून का आधार शरीअत था। अव स्वीजरलैड का जाव्ता दीवानी और इटली का जाव्ता फौजदारी और जर्मनी का जाव्ता व्यापारी लागू कर दिये गए। इन मामलो से सवध रखनेवाला पुराना इस्लामी कानून वदल गया। वहु-विवाह की प्रथा भी वन्द कर दी गई।

पुराने धार्मिक रिवाज के विरुद्ध जानेवाला दूसरा परिवर्तन था मानव-रूप के आलेखो, चित्रो और मूर्तियो की रचना को प्रोत्साहन दिया

जाना। इस्लाम मे यह व्यवहार शरीअत के खिलाफ माना जाता है। मुस्तफा कमाल ने ये काम सिखाने के लिए कला-शालाए खोल दी।

कमालपाशा की हार्दिक इच्छा थी कि तुर्क स्त्रिया सव बन्धनो से मुक्त हो जाय। एक 'नारी अधिकार रक्षा समिति' बनाई गई और नौकरियो तथा धन्धो के दरवाजे स्त्रियो के लिए खोल दिये गए। सबसे पहले बुरके पर जोरदार धावा बोला गया। स्त्रियो को तो इस बुरके को फाड फेकने का मौका मिलने की देर थी। कमालपाशा ने उन्हे यह मौका दिया और वे दौडी-दौडी चली आई। उसने यूरोपीय ढग के नृत्य को खूब प्रोत्साहन दिया। वह खुद तो इसका शौकीन था ही, साथ ही उसके मन मे यह नारियो की मुक्ति का तथा पश्चिमी सभ्यता का प्रतीक वन गया। हैट और नाच प्रगति और सभ्यता के नारे वन गये। ये पश्चिम के कोई अच्छे प्रतीक नही थे, पर कम-से-कम ऊपरी सतह पर उनका असर पडा। तुर्को ने अपने जीवन का ढग बदल दिया। परदे मे पाली-पोसी हुई स्त्रियो की सारी पीढी ने कुछ ही वर्पो मे एकदम बदलकर वकीलो, अध्यापको, डाक्टरो और न्यायाधीशो का काम सम्हाल लिया। लातीनी वर्णमाला के ग्रहण से तुर्की मे टाइप-राइटरो का उपयोग बहुत वढ गया। इससे शीघ्र-लिपि जाननेवाले टाइपिस्टो की जरूरत बढ गई और इसका परिणाम हुआ स्त्रियो को और भी ज्यादा नौकरिया मिलना।

बच्चो को भी विविध प्रकार से प्रोत्साहन दिया गया कि वे पूरा विकास करके आत्म-निर्भर तथा सुयोग्य नागरिक वन जाय। एक बडी निराली सस्था 'बच्चो का सप्ताह' थी। कहा जाता है कि हर साल एक हफ्ते के लिए हर सरकारी कर्मचारी के स्थान पर नाममात्र के लिए एक-एक बच्चे को बैठा दिया जाता था और सारे राज्य का शासन बच्चे करते थे। मै नही कह सकता कि यह व्यवस्था कैसे चलती होगी, पर यह सूझ बडी चित्ताकर्षक है, और मुझे यकीन है कि कुछ बच्चे चाहे जितने नादान और अनुभवहीन क्यो न हो, उनका व्यवहार हमारे वडी उम्रवाले और गभीर और मोहर्रमी सूरत-वाले शासको तथा सरकारी कर्मचारियो के व्यवहार से ज्यादा मूर्खतापूर्ण नही हो सकता।

एक छोटा-सा परिवर्तन, पर तुर्की के शासको के नये दृष्टिकोण का

महत्वपूर्ण द्योतक, था सलाम करने के रिवाज का हटाया जाना। उसने स्पष्ट कह दिया कि हाथ मिलाना अभिवादन का ज्यादा सभ्य तरीका है और भविष्य मे इसीका प्रयोग किया जाना चाहिए।

इसके बाद कमालपाशा ने तुर्की भाषा पर, या यू कहो कि उसमे जिन्हे वह विदेशी तत्व मानता था, उनपर, जबरदस्त हमला बोल दिया। तुर्की भाषा अरबी लिपि मे लिखी जाती थी और कमालपाशा इसे कठिन भी समझता था और विदेशी भी। मध्य-एशिया मे सोवियतो के सामने भी इसी प्रकार की समस्या आई थी, क्योकि अनेक तातारी कौमो की लिपिया अरबी या फारसी लिपियो से निकली हुई थी। सन १९२४ मे सोवियतो ने इस प्रश्न पर विचार करने के लिए बाकू मे एक सम्मेलन बुलाया और इसमे यह निश्चय किया गया कि मध्य-एशिया की विभिन्न तातारी भाषाओ के लिए लातीनी लिपि काम मे ली जाय। मुस्तफा कमाल इस प्रणाली की ओर आकर्षित हुआ और उसने इसे सीख लिया। उसने इसका प्रयोग तुर्की भाषा पर किया और इसके पक्ष मे उसने खद जोरदार कार्रवाई शुरू कर दी। लगभग दो वर्ष के प्रचार और सिखाई के बाद कानून के द्वारा एक तिथि निश्चित कर दी गई, जिसके बाद अरबी लिपि का प्रयोग वर्जित कर दिया गया और लातीनी लिपि अनिवार्य कर दी गई।

इस प्रकार तुर्की मे लातीनी लिपि की जड जम गई, पर इसके बाद शीघ्र ही दूसरा परिवर्तन हो गया। यह देखा गया कि अरबी तथा फारसी शब्द इस लिपि मे आसानी से नही लिखे जा सकते थे, उनके विशेष उच्चारण और ध्वनि-भेद इसमे व्यक्त नही किये जा सकते थे। विशुद्ध तुर्की शब्द इतने उम्दा नही थे, वे अधिक भौडे, अधिक सीधे और जोरदार थे और नई लिपि मे आसानी से लिखे जा सकते थे। इसलिए यह फैसला किया गया कि तुर्की भापा मे से अरबी तथा फारसी शव्दो को निकाल दिया जाय और उनकी जगह विशुद्ध तुर्की शब्द रखे जाय। जैसाकि मै बतला चुका हू, कमालपाशा चाहता था कि जहातक सभव हो, तुर्की को अरबी तथा अन्य पूर्वी प्रभावो से विलग कर दिया जाय।

भापा मे इन परिवर्तनो के कारण नगरो और व्यक्तियो के नामो मे भी परिवर्तन हो गये है। कुस्तुन्तुनिया अब इस्तम्बूल हो गया है, अगोरा अब

अङ्कारा है, और स्मर्ना अब इस्मीर है। तुर्की मे व्यक्तियो के नाम आमतौर पर अरबी से लिये गए है—मुस्तफा कमाल भी अरबी नाम है। नवीन प्रवृत्ति शुद्ध तुर्की नाम रखने की हो गई है।

एक परिवर्तन, जिसके कारण बखेडा पैदा हो गया है, ऐसे कानून का बनाया जाना है कि इस्लामी नमाज और अजान भी तुर्की भाषा मे हो। मुसलमान लोग हमेशा से मूल अरबी मे नमाज पढते आये है। इसलिए अनेक मौलवियो और मस्जिदो के मुल्लाओ ने महसूस किया कि यह अनुचित नवीनता है और उन्होने अपनी नमाज अरबी मे जारी रखी। पर तुर्की सरकार ने इस विरोध को भी अन्य विरोधो की भाति कुचल दिया है।

इन तमाम लम्बी-चौडी सामाजिक उलट-फेरो ने जनता के जीवन को बिल्कुल बदल दिया है और पुराने रिवाजो तथा धार्मिक लगावो से विलग एक नई पीढी तैयार हो रही है। मगर महत्वपूर्ण होते हुए भी इन परिवर्तनो का देश के आर्थिक जीवन पर बहुत अधिक प्रभाव नही पडा है। शीर्ष पर कुछ छोटे-मोटे परिवर्तनो के सिवा इसका आधार वही बना हुआ है, जो पहले था।

खेती मे कमालपाशा की ज्यादा दिलचस्पी थी, क्योकि तुर्की किसान तुर्की राष्ट्र तथा सेना की रीढ रहा है। आदर्श फार्म बनाये गए, यान्त्रिक हल जारी कर दिये गए और सहकारी समितियो को प्रोत्साहन दिया गया।

बाकी दुनिया की तरह तुर्की भी युद्ध के बाद की महामदी मे फस गया था और उसे अपना जमा-खर्च बराबर करना मुश्किल हो गया था। पर वह तो मुस्तफा कमाल के नेतृत्व मे धीरे-धीरे तथा दृढता के साथ आगे बढता रहा और मुस्तफा कमाल देश का सर्वोपरि नेता तथा अधिनायक बना रहा। उसे 'अता तुर्क' यानी देश-पिता की उपाधि दी गई।

इस प्रकार कमाल अतातुर्क की बुद्धिमत्तापूर्ण रहनमाई मे तुर्की अपनी जातीय तथा अन्य समस्याओ से पिड छुडाकर अदरूनी विकास के कार्य मे सलग्न हो गया। अतातुर्क ने अपने देशवासियो की उत्तम सेवा की थी, और जब नवम्बर, सन १९३८ मे, उसकी मृत्यु हुई तो उसने इस सतोष के साथ प्राण त्याग किये कि उसे अपने कार्य मे अपूर्व सफलता प्राप्त करने का सौभाग्य मिला। इसके बाद इसका पुराना साथी सेनापति इस्मत इन्येनू तुर्की के राष्ट्रपति के पद पर आसीन हुआ।

कमाल अतातुर्क ने मध्य-पूर्व मे इस्लाम के जानदार प्रेरक-बल को एक नई दिशा मे मोड दिया, इस्लाम ने नया वेश धारण कर लिया, मध्यकालीन विचारो का परित्याग कर दिया और इस प्रकार अपनेको आज के ससार की पक्ति मे ला खडा किया। मध्य-पूर्व के सारे इस्लामी देशो पर अतातुर्क के उदाहरण का जबरदस्त असर पडा है। यहा आधुनिक राष्ट्रीय राज्य स्थापित हो गये है, जिन्होने धर्म के बजाय राष्ट्रीयता को ही अपना आधार बनाया है।